णमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स ॥

पू० आगमोद्धारक-आचार्यप्रवर-आनन्दसागरसूरीश्वरेभ्यो नमः

श्रीमान् शान्तिसूरि विरचित—

धर्मरत्न प्रकरण ।

पहिला भाग

(हिन्दी अनुवाद)

संशोधक

प० पू० गच्छाधिपति-आचार्य-श्रीमन्माणिक्यसागरसूरीश्वर

शिष्य शतावधानी-मुनि लाभसागर

वीर सं. २४९२ वि. सं. २०२२ आगमोद्धारक सं. १६

प्रतयः ५००] [मूल्यम् ५=०

णमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स ॥

पू० आगमोद्धारक-आचार्यप्रवर-आनन्दसागरसूरीश्वरेभ्यो नमः

श्रीमान् शान्तिसूरि विरचित—

धर्मरत्न-प्रकरण ।

पहिला भाग

(हिन्दी अनुवाद)

संशोधक—

प० पू० गच्छाधिपति-आचार्य-श्रीमन्माणिक्यसागरसूरीश्वर

शिष्य शतावधानी-मुनि लाभसागर

वीर सं. २४९२ वि. सं. २०२२ आगमोद्धारक सं. १६

प्रतयः ५००]

[मूल्यम् ६-००

प्रकाशक—
आगमोद्धारक ग्रंथमाला के एक कार्यवाहक
शा. रमणलाल जयचन्द
कपड़वंज (जि० खेड़ा)

द्रव्य सहायक--
७५९) श्री ऋषभदेवजी छगनीरामजी की पेढ़ी, उज्जैन.

पुस्तक—प्राप्ति स्थानः--
१. श्री जैनानन्द पुस्तकालय, गोपीपुरा, सुरत ।
२. श्री ऋषभदेवजी छगनीरामजी की पेढ़ी खाराकुआ उज्जैन

किञ्चिद् वक्तव्य

सुज्ञ विवेकी पाठकों के समक्ष जीवन के स्तर को ऊंचा उठाकर धर्माराधना के अनुकूल जीवन को बनाने वाले उत्तम इक्कीस गुणों के वर्णन-स्वरूप श्री धर्म-रत्न प्रकरण (हिन्दी) का यह प्रथम भाग प्रस्तुत किया जा रहा है।

वैसे तो यह ग्रंथरत्न खूब ही मार्मिक धर्म की व्याख्याओं से एवं आराधना के विविध स्वरूपों से भरपूर है, फिर भी प्रारंभ में भूमिका-स्वरूप इक्कीस गुणों का हृदयंगम वर्णन कथाओं के साथ किया गया है। इस चीज को लेकर बाल जीवों को यह ग्रन्थ अत्युपयोगी है।

इसी चीज को लक्ष्य में रखकर आगमसम्राट बहुश्रुत ध्यानस्थ स्व॰ आचार्य श्री आनन्दसागर सूरीश्वरजी म. के सदुपदेश से वि॰ सं॰ १९८३ के चतुर्मास में वर्तमान गच्छाधिपति आचार्य श्री माणिक्यसागरसूरीश्वरजी के प्रथम शिष्य मुनिराज श्री अमृतसागरजी म॰ के आकस्मिक काल-धर्म के कारण उन पुण्यात्मा की स्मृति निमित्त "श्री जैन-अमृत-साहित्य-प्रचार समिति" की स्थापना उदयपुर में हुई थी। जिसका लक्ष्य था

विशिष्टग्रंथों को हिन्दी में रूपांतरित करके बालजीवों के हितार्थ प्रस्तुत किये जायं। तदनुसार श्राद्ध-विधि (हिन्दी) एवं श्री त्रिषष्टीयदेशना संग्रह (हिन्दी) का प्रकाशन हुआ था, और प्रस्तुत ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद मुद्रण योग्य पुस्तिका के रूप में रह गया था। उसे पूज्य गच्छाधिपति श्री की कृपा से संशोधित कर पुस्तकाकार प्रकाशित किया जा रहा है।

इस ग्रन्थ में प्रत्येक गुण उपर अनूठे ढंग से रोचक शैलि एवं उदात्त प्रतिपादना के द्वारा निर्दिष्ट कथाएं विषय को सुदृढ करती है।

विवेकी आत्मा इसे विवेकबुद्धि के साथ पढकर जीवन को रत्नत्रयी की आराधना वास्ते परिकर्मित बनाकर परम मंगलमाला को प्राप्त कराने वाले धर्म की सानुबंध आराधना में सफल हों यह अन्तिम शुभाभिलाषा।

लि०

श्री श्रमण संघ सेवक

गणिवर श्री धर्मसागर चरणोपासक

मुनि अभयसागर

प्रकाशकीय-निवेदन ।

प० पू० गच्छाधिपति आचार्य श्री माणिक्यसागर सूरीश्वरजी महाराज आदि ठाणा वि. सं. २०१० की साल में कपडवंज शहर में मीठाभाई गुलालचन्द के उपाश्रय में चतुर्मास वीराजे थे। उस वख्त विद्वान् बाल दीक्षित मुनिराज श्री सूर्योदयसागरजी महाराज की प्रेरणा से आगमोद्धारक-ग्रन्थमाला की स्थापना हुई थी। इस ग्रन्थमाला ने अब तक काफी प्रकाशन प्रगट किये हैं।

सूरीश्वरजी की पुण्यकृपासे यह 'धर्म-रत्न-प्रकरण' हिन्दी अनुवाद के पहिला भाग को आगमोद्धारक-ग्रन्थमाला के ३० वें रत्न में प्रगट करने से हमको बहुत हर्ष होता है।

इसका संशोधन प० पू० गच्छाधिपति आचार्य श्री माणिक्य-सागरसूरीश्वर म० के तत्त्वावधान में शतावधानी मुनिराज श्री लाभसागरजी ने किया है। उसके बदल उनका और जिन्होंने इसके प्रकाशन में द्रव्य और प्रति देने की सहायता की है उन सब महानुभावों का आभार मानते हैं।

—लि० प्रकाशक

विषयानुक्रम

विषय		पृष्ठ

शुद्धि - पत्रक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	१६	गतिम् (तू)?	गतिम्
६	७	सिद्वार्थ	सिद्धार्थ
,,	१२	देशणा	देसणा
९	२	(तृणां का)	(तृणों को)
,,	१६	सद्वर्म	सद्धर्म
१०	१६	समभना	समझना
१३	२३	तेरा	तेरी
१४	८	गुस्सा	गुस्से
१७	२३	प्रोढता	प्रोक्ता
२२	६	यामन	वामन
२३	२	हवा	दवा
४२	३	सन्त	सन्तप्त
४९	१३	विभत्स	वीभत्स
७०	६	हतकः	हन्त ! कः
७२	९	क	कर
७४	४	तदन्तर	तदनन्तर
८१	२०	वर्द्दन	वर्द्धन
९५	२	भरदुरंतेण	गरुयदुरंत
९६	२	विनय	विनंती
१०३	६	अहिंसैव	अहिंसैव
,,	,,	स्व	स्वर्ग
१०४	७-९	यशोधरा	यशोधर
१०८	१३	प्राप्तः	प्रातः
११३	६	सत्त	सत्त
११८	२४	तलवार	तलवर
१३३	१८	जा	जान
१३६	१७	प्राशुक	प्रासुक
१४५	१८	श्रीशूर	श्रीशूर
१४६	१९	के	पुरंदरकुमार के
१५६	२१	विनय	विनन्ती
१६४	३	लान	लीन
,,	५	दुख	दुःख
१६६	१३	नरंतरायं	निरंतरायं
१७८	१०	चांवल	शालि
१७९	५	,,	,,
१८३	९	समथन	समर्थन
१९१	१५	निवृत्ति	निर्वृति
२१८	३	विप्यमु०	विप्पमु०
२३६	२५	विप्रौषधी	विप्रुड् औषधी
२३७	१०	,,	,,
२३९	६	संहार	संहरण
२५०	२३	कानम	नामक
२६६	१६	जैसे पिंजरे में रखे हुए शुक पर	अच्छे पाश वाले अंशुक-वस्त्र पर

नमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स ।

पू. आगमोद्धारक-आचार्य-श्रीआनन्दसागरसूरीश्वरेभ्यो नमः

आचार्यप्रवर-श्रीशान्तिसूरि विरचितं

धर्मरत्न-प्रकरणम् ।

(अनुवादसहित)

जैन ग्रंथकारों की यह शैली है कि प्रारम्भ में मंगलाचरण करना चाहिये. अतः टीकाकार प्रथम सामान्य मंगल करते हैं:—

ॐ नमः प्रवचनाय ।

टीकाकार का खास मंगलाचरण.

सज्ज्ञान-लोचन-विलोकित-सर्वभावं
निःसीम-भीम-भवकाननदाहदावम् ।
विश्वार्चितं प्रवरभास्वरधर्मरत्न—
रत्नाकरं जिनवरं प्रयतः प्रणौमि ॥१॥

सम्यग् ज्ञानरूप चक्षुद्वारा सर्वपदार्थों को देखने वाले, निःसीम भयंकर संसाररूप वन को जलाने के लिये दावानल समान, जगत्पूज्य, उत्तम और जगमगाते धर्मरूप रत्न के लिये रत्नाकर (समुद्र) समान, जिनेश्वर की (मैं) सावधान (हो) स्तुति करता हूं।

अब टीकाकार अभिधेय तथा प्रयोजन बताते हैं:—

विशेष अर्थवाले और स्वल्प शब्दरचनावाले श्री-धर्मरत्न-नामक शास्त्र को, स्वपर के उपकार के हेतु, शास्त्र के अनुसार किंचित् वर्णन करता हूँ ।

अब टीकाकार मूलग्रंथकी प्रथमगाथा के लिये अवतरण लिखते हैं।

इस जगत में त्यागने व ग्रहण करने योग्य इत्यादि पदार्थों की समझ रखने वाले जन्म-जरा-मरण तथा-रोग-शोकादि विषम दुखों से पीड़ित भव्यप्राणी ने, स्वर्ग-मोक्षादि सुख संपदा का मज-बूत कारणभूत सद्धर्मरूपी रत्न ग्रहण करना चाहिये।

उस (सद्धर्मरत्न) के ग्रहण करने का उपाय गुरुके उपदेश बिना भली भांति नहीं जाना जा सकता और जो उपाय नहीं है उसमें प्रवृत्ति करनेवालों को इच्छित अर्थ की सिद्धि नहीं होती।

इसलिये सूत्रकार करुणा से पवित्र अन्तःकरण वाले होने से, धर्मार्थी प्राणियों को धर्म ग्रहण करने तथा उसका पालन करने का उपदेश देने के इच्छुक होकर सत्पुरुषों के मार्ग का अनुसरण कर प्रथम आदि में इष्ट देवता नमस्कार इत्यादि विषय प्रतिपादन करने के हेतु यह गाथा कहते हैं।

नमिऊण सयलगुणरयणकुलहरं विमलकेवलं वीरं।

धम्मरयणत्थियाणं जणाण वियरेमि उवएसं ॥१॥

अर्थः—सकल गुणरूपी रत्नों के उत्पत्ति स्थान समान निर्मल केवलज्ञानवान् वीरप्रभु को नमन करके धर्मरत्न के अर्थी जनों को उपदेश देता हूँ।

इस गाथा के पूर्वार्द्ध द्वारा अभीष्ट देवता को नमस्कार करने के द्वार से विघ्न विनायक बड़े विघ्न की उपशान्ति के हेतु मंगल कह बताया है, और उत्तरार्द्ध द्वारा अभिधेय कह बताया है।

सम्बन्ध और प्रयोजन तो सामर्थ्य गम्य है, अर्थात् अपने सामर्थ्य ही से ज्ञात होता है, वह इस प्रकार है।—

वहां सम्बन्ध, वह उपायोपेय स्वरूप अथवा साध्य साधन रूप जानो, वहां यह शास्त्र (उसके अर्थका) उपाय अथवा साधन है, और शास्त्रार्थपरिज्ञान उपेय अथवा साध्य है।

प्रयोजन तो दो प्रकार का है:—कर्ता का और श्रोता का. वह प्रत्येक पुनः अनन्तर और परंपरा भेद से दो प्रकार का है।

वहां शास्त्रकर्ता को अनन्तर प्रयोजन भव्यजीवों पर अनुग्रह करना यह है, और परंपर प्रयोजन मोक्ष प्राप्तिरूप है, जिसके लिये कहा है कि:—

"सर्वज्ञोक्तोपदेशेन, यः सत्त्वानामनुग्रहम्।
करोति दुःखतप्तानां, स प्राप्नोत्यचिराच्छिवम्॥१॥

सर्वज्ञोक्त उपदेश द्वारा जो पुरुष दुःख से संतप्त जीवों पर अनुग्रह करें वह थोड़े समय में मोक्ष पाता है।

श्रोता को तो अनन्तर प्रयोजन शास्त्रार्थ परिज्ञान है, और परंपर प्रयोजन तो उनको भी मोक्ष प्राप्तिरूप है. कहा है कि:—

"सम्यक् शास्त्रपरिज्ञाना—द्विरक्ता भवतो जनाः।
लब्ध्वा दर्शनसंशुद्धिं, ते यान्ति परमां गतिम् (त्) ? ॥१॥

शास्त्र के सम्यक् परिज्ञान से संसार से विरक्त हुए पुरुष सम्यक्त्व की शुद्धि उपलब्ध करके परमगति (मोक्षगति) पाते हैं।

नम कर याने प्रणाम करके, किसको ? याने वीर को, कर्म को विदारण करने से, तप से विराजमान होने से, और उत्तम वीर्य से युक्त होने से जगत् में जो वीर पदवी से प्रख्याति पाये हुए हैं, जिसके लिये कहने में आया है कि:—

जिस हेतु से कर्म को विदारण करते हैं, तप से विराजते हैं, और तपवीर्य से युक्त हैं उसी से वीर नाम से स्मरण किये जाते हैं,

उन वीर को अर्थात् श्रीमान् वर्द्धमान स्वामी को—

कैसे वीर को ? (वहां विशेषण देते हैं कि) 'सकलगुण-रत्न-कुलगृहं' (अर्थात) सकल समस्त जो गुण-क्षांति मार्दव आर्जवादिक–वे ही भयंकर दारिद्र मुद्रा को गलाने वाले होने से वैसे ही सकल कल्याण परंपरा के कारणभूत होने से रत्नरूप में (मानेजाने से) सकल गुण रत्न (कहलाते हैं) उनके जो कुलगृह अर्थात् उत्पत्ति स्थान हैं, ऐसे वीर को—

पुनः कैसे वीर को— (वहां दुसरा विशेषण देते हैं कि) 'विमल-केवलं' अर्थात् विमल याने ज्ञान को ढांकने वाले सकल कर्म परमाणु रज के सम्बन्ध से रहित होने से निर्मल, केवल अर्थात् केवल नामक ज्ञान है जिनको वे विमलकेवल—ऐसे उन वीर को,

सम्बन्धक भूत कृदन्त का क्त्वा प्रत्यय उत्तरक्रिया की अपेक्षा रखने वाला होने से उत्तरक्रिया कहते हैं, (सारांश कि सकल गुण रत्न कुलगृह विमलकेवलज्ञानी वीर को नमन करके पश्चात क्या करने वाला हूं, सो बताते हैं।)

'वितरामि' अर्थात देता हूँ, क्या –'उपदेशं'–कहना वह उपदेश अर्थात् हित में प्रवृत होने और अहित से निवृत होने के लिये जो वचन रचना का प्रपंच (गोठवणी) वह उपदेश,

किसको उपदेश देता हूँ ? जनोंको–लोगोंको, कैसे जनों को ?' धर्मरत्न के अर्थियों को,

दुर्गति में पड़नेवाले प्राणियों को (पड़ते हुए) धारण करे और सुगति में पहुंचावे वह धर्म, जिससे कहा है कि:—

जिससे दुर्गति में पड़ते हुए जन्तुओं को उससे धर रखता है, और उनको शुभ स्थान में पहुंचाता है इससे वह धर्म कहलाया है।

वह धर्म ही रत्न माना जाता है—रत्न शब्द का अर्थ पूर्व वर्णन किया है, उस धर्मरत्न को जो चाहते हैं, वैसे स्वभाव वाले जो होते हैं वे धर्म रत्नार्थी कहलाते हैं, वैसे लोगों को–

मूल गाथा में प्राकृत के नियमानुसार चौथी के अर्थ में छठी विभक्ति का उपयोग किया है, जिसके लिये प्रभु श्री हेमचन्द्रसूरि महाराज ने अपने प्राकृत व्याकरण में कहा है कि "चतुर्थी के स्थान में षष्ठी करना" इस प्रकार गाथा का अक्षरार्थ बताया,

भावार्थ तो इस प्रकार है:—

"नमनकर" इस पूर्वकाल दर्शक और उत्तरकाल की क्रिया के साथ संबन्ध रखने वाले इस प्रकार स्याद्वादरूपी सिंहनाद समान-पद से एकान्त नित्य तथा एकान्त अनित्य वस्तु स्थापन करनेवाले वादी प्रतिवादीरूप दोनों हरिणों का मुख बंध किया हुआ है।

कारण कि एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य कर्त्ता पृथक् २ दो क्रिया नहीं कर सकते, क्योंकि पृथक् २ क्रिया होने पर कर्त्ता भी पृथक् २ हो जाते हैं, उससे दूसरी क्रिया करने के क्षण में कर्त्ता को या तो अनित्यता के अभाव का प्रसंग लागू पड़ेगा अथवा नित्यता के अभाव का प्रसंग लागू पड़ेगा, इस प्रकार दो प्रसंगों से एकान्त नित्यता तथा एकान्त अनित्यता का खंडन करना,

अब विशेषणों का भावार्थ बताते हुए चार अतिशय कहते हैं–

'सकलगुणरत्नकुलगृहं' इस पद से अंतिम तीर्थनायक भगवान् वीर प्रभु का पूजातिशय बताने में आता है, क्योंकि गुणवान् पुरुषों को दौड़ादौड़ से करने में आते प्रणाम के कारण

से मस्तक पर के मुकुटों की अणियों के झनझन करते मिलाप के साथ देवों व दानवों के इन्द्र भी पूजा करते ही हैं, कहा है कि: —

इस लोक में सब कोई गुणों के कारण (माननीय) गिने जाते हैं, उदाहरण देखो कि गुण से अधिक ऐसे वीर प्रभु के समीप झूलती हुई मुकुट की अणियों से इन्द्र भी सदैव आया करते हैं।

'विमल केवलं' इस पद से तो ज्ञानातिशय सहितपना बताने से प्रख्यात सिद्धार्थ राजा के कुलरूप निर्मल आकाश प्रदेश में चन्द्र समान वीर जिनेश्वर का वचनातिशय (भी) बतलाया जाता है, कारण कि केवलज्ञान प्राप्त होते तीर्थकर भगवान् अवश्य ही उत्तमोपदेश देने को प्रवृत्त होते हैं, क्योंकि इसी प्रकार से तीर्थंकर नामकर्म भोगा जा सकता है, जिससे पूज्य श्री भद्रबाहु स्वामी ने कहा है कि:—तं च कहं वेइज्जइ?, अगिलाए धम्मदेशणा ईहि

"वह तीर्थंकर नामकर्म किस प्रकार भोगाजाय? उसका उत्तर यह है कि– अग्लानि से अर्थात् क्लेश माने विना धर्मोपदेश आदि करने से" इत्यादि.

'वीर' इस यौगिक (सार्थक) पद द्वारा सर्व अपाय के हेतुभूत कर्मरूपी शत्रु के समूह को मूल से उखाड़ने वाले भगवान् चरम जिनेश्वर वीर प्रभु का अपायापगमातिशय स्पष्टतः कह दिखाया है, कारण कि, समस्त कर्म संसार में भ्रमण करने के कारण होने से अपाय रूप हैं, देखो, आगम में लिखा है कि:—सव्वं पावं कम्मं

"सर्व कर्म पापरूप हैं, क्योंकि उनसे (जीव) संसार में भटका करता है।"

'धर्मरत्नार्थि' इस पद से यह सूचित किया जाता है कि सुनने के अधिकारी का मुख्य लिंग अर्थित्व ही है–अर्थात् जो अर्थी होवे वही सुनने का अधिकारी माना जाता है, जिससे अति परो-

पकारी श्री हरिभद्रसूरि ने निम्नानुसार कहा है:--

" यहां जो अर्थी होवे, समर्थ होवे, और सूत्र में वर्णित दोष से रहित होवे वह (सुनने का) अधिकारी जानो, अर्थी वह कि जो विनीत होकर सुनने को आतुर होवे और पूछने लगे।"

'जनों को' इस बहुवचनान्त पद से यह बताया है कि फक्त बड़े मनुष्य ही को उद्देश्य करके उपदेश देना यह नहीं रखना, किंतु साधारणतः सबको समानता से उपदेश देना, जिसके लिये सुधर्म-स्वामी ने कहा है कि-- "जैसे बड़े को कहना वैसे ही गरीब को कहना, जैसे गरीब को कहना वैसे ही बड़े को कहना,"

" उपदेश देता हूँ " ऐसा कहने का यह आशय है कि अपनी बुद्धि बताने के लिये, अथवा दूसरे को नीचा गिराने के लिये वा किसी को कमाकर देने के लिये प्रवर्त्तित नहीं होता, -किन्तु किस प्रकार ये प्राणी सद्धर्ममार्ग पाकर अनन्त मुक्ति सुखरूप महान् आनंद के समूह को प्राप्त कर सकते हैं, इस तरह अपने पर तथा दूसरों पर अनुग्रह बुद्धि लाकर (उपदेश देता हूँ) जिसके लिये कहा है कि--

" जो पुरुष शुद्ध मार्ग का उपदेश करके अन्य प्राणियों पर अनुग्रह करता है वह अपनी आत्मा पर अतिशय महान् अनुग्रह करता है।"

हितोपदेश सुनने से सर्व श्रोताओं को कुछ एकान्त से धर्म प्राप्ति नहीं होती, परन्तु अनुग्रह बुद्धि से उपदेश करता हुआ उपदेशक को तो एकान्त से अवश्य धर्मप्राप्ति होती है।

इस प्रकार भावार्थ सहित प्रथम गाथा का सकल अर्थ कहा।

अब दूसरी गाथा के लिये टीकाकार अवतरण देते हैं,

अब सूत्रकार अपनी प्रतिज्ञानुसार कहने को इच्छुक होकर प्रस्तावना करते हैं।

भवजलहिंमि अपारे, दुलहं मणुयत्तणं पि जंतूणं।
तत्थवि अणत्थहरणं, दुलहं सद्धम्मवररयणं ॥२॥

(मूल गाथा का अर्थ)

अपार संसाररूप सागर में (भटकते) जन्तुओं को मनुष्यत्व (मिलना) भी दुर्लभ है, उस (मनुष्यत्व) में भी अनर्थ को हरने वाला सद्धर्मरूपी रत्न (मिलना) दुर्लभ है।

(भू धातु का अर्थ उत्पन्न होना होने से) प्राणी कर्मवश नारक, तिर्यंच-नर तथा देवरूप में उत्पन्न होते रहते हैं जिसमें उसे भव-संसार जानो वही भव-जन्म जरा मरणादिरूप जल को धारण करने वाला होने से जलधि माना जा सकता है, अब वह भवजलधि आदि और अन्त से रहित होने के कारण अपार याने असीम है, उसमें 'भटकते' इतना पद अध्याहार करके जोड़ना है-(उससे यह अर्थ हुआ कि-अपार संसाररूप सागर में भटकते जन्तुओं को-

मनुजत्व-मनुष्यपन भी दुर्लभ-दुःख से मिल सकता है, परन्तु कहने का यह मतलब कि देश-कुल-जाति आदि की सामग्री मिलना दुर्लभ है यह बात तो दूर ही रही, परन्तु स्वतः मनुष्यत्व भी दुर्लभ है।

जिसके लिये जगत् के वास्तविक बन्धु श्री वर्द्धमान स्वामी ने अष्टापद पर्वत पर से आये हुए श्री गौतम महामुनि को (निम्नानुसार) कहा है,--

" सर्व प्राणियों को चिरकाल से भी मनुष्य भव (मिलना) वास्तव में दुर्लभ है, कर्म के विपाक आकरे (भयंकर) हैं-इसलिये हे गौतम ! तूं क्षणमात्र (भी) प्रमाद-आलस्य मत करना. "

अन्य मतावलम्बियों ने भी कहा है कि-

" अपार संसाररूप अरण्य में भटकता हुआ प्राणी (वहां) ऊगे हुए दुःकर्मरूप (तृणों को) जलाकर सुखरूप पाक के बीजरूप मनुष्यत्व को सचमुच कष्ट ही के द्वारा पा सकता है।"

" मनुष्यों में चक्रवर्ती प्रधान है, देवों में इन्द्र प्रधान है, पशुओं में सिंह प्रधान है, व्रतों में प्रशम-शान्तिभाव प्रधान है, पर्वतों में मेरु प्रधान है और भवों में मनुष्य भव प्रधान है।"

" अमूल्य रत्न भी पैसे के जोर से सहज में प्राप्त किये जा सकते हैं, परन्तु कोटि-रत्नों द्वारा भी मनुष्य की आयु का क्षण मात्र प्राप्त करना दुर्लभ है"

जन्तुओं को याने प्राणियों को—वहां भी अर्थात् मनुष्यपन में भी अनर्थ हरण याने अनर्थ अर्थात्-जिसकी अर्थना-अभिलाषा न करें ऐसे दारिद्र तथा नीच उपद्रव आदि अपाय—उनका हरण हो-नाश हो जिसके द्वारा—वह अनर्थ हरण, वह क्या सो कहते हैं,—सत् -उत्तम अर्थात् पूर्वापर अविरोध आदि गुणगण से अलंकृत होने के कारण अन्यवादियों द्वारा कल्पित धर्मों की अपेक्षा से शोभन ऐसा जो धर्म वह सद्धर्म--अर्थात् सम्यक् दर्शनादिक धर्म-वह सद्धर्म ही शाश्वत और अनंत मोक्षरूप अर्थ का देने वाला होने से इस लोक ही के अर्थ को साधनेवाले अन्य रत्नों की अपेक्षा से वर याने प्रधान होने से सद्धर्म वररत्न कहलाता है वह दुर्लभ-दुष्प्राप्य है। (२)

मूल की तीसरी गाथा के लिये अवतरण.

अब इस अर्थ को उदाहरण सहित स्पष्ट करते हैं.

जह चिंतामणिरयणं, सुलहं न हु होइ तुच्छविहवाणं।
गुणविहववज्जियाणं, जियाण तह धम्मरयणं पि ॥ ३ ॥

(मूल गाथा का अर्थ)

जैसे धनहीन मनुष्यों को चिन्तामणि रत्न मिलना सुलभ नहीं, वैसे ही गुणरूपी धन से रहित जीवों को धर्मरत्न भी मिल नहीं सकता।

जैसे—जिस प्रकार से, परिचित चिन्तामणि रत्न, सुलभ याने सुख से प्राप्त हो सके वैसा नहीं याने नहीं ही होता, (किसको?) थोड़े विभव वाले को अर्थात् यहां कारण में कार्य का उपचार किया हुआ होने से विभव शब्द से विभव का कारण पुण्य लेते थोड़े पुण्य वाले जो होवें उनको उस प्रकार के अर्थात् पुण्यहीन पशुपाल की भांति (इसकी बात आगे कही जावेगी।)

उसी प्रकार गुण अर्थात् आगे जिनका वर्णन किया जायगा वे अक्षुद्रता आदि। उनका जो विशेष करके भवन याने होना उनको कहना गुणविभव अथवा गुणरूपी विभव याने रिद्धि सो गुणविभव, उससे वर्जित याने रहित जीवों को अर्थात् पंचेन्द्रिय प्राणियों को, (यहां जीव शब्द से पंचेन्द्रिय प्राणी लेना) कहा भी है कि:—
प्राण अर्थात् द्वि। त्रिय। तथा चतुरिंद्रिय जानना, भूत याने तरु समझना, जीव याने पंचेन्द्रिय जानना। शेष पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु, उनको सत्त्व कहा है।

मूलगाथा के अन्त में लगाये हुए अपि शब्द का सम्बंध जीव शब्द के साथ करने का है, उससे यहां इस प्रकार परमार्थ योजना करना कि एकेन्द्रिय तथा विकलेंद्रियों को तो मूल ही से धर्म प्राप्ति नहीं है, परन्तु पंचेन्द्रिय जीव भी जो यथा योग्यता के कारण जो गुण उनकी सामग्री से रहित होवें उनको उसी प्रकार धर्मरत्न मिलना सुलभ नहीं, चलती बात का सम्बंध है।

पूर्ववर्णित पशुपाल का दृष्टान्त इस प्रकार है:—

बहुत से विबुधजन (देवताओं) से युक्त, हरि (इन्द्र) से रक्षित, सैकड़ों अप्सराओं (देवाङ्गनाओं) से शोभित इन्द्रपुरी के

समान यहां बहुत से विबुध जन (पंडितों) से युक्त, हरि (इसनाम के राजा) से रक्षित, सैकड़ों अप्सर (पानी-के तालावों) से शोभित हस्तिनापुर नामक उत्तम नगर था।

वहां पुरुषों में हाथी समान उत्तम नागदेव नामक महान सेठ था, उसकी निर्मल शीलवान् वसुंधरा नामक स्त्री थी।

उसका विनयवान् और उसीसे निर्मल बुद्धि की समृद्धि वाला जयदेव नामक पुत्र था। वह चतुर स्वभाव से चतुर होकर बारह वर्ष तक रत्न परीक्षा सीखता रहा।

जिस पर कोई हँस न सके ऐसे निर्मल, कलंक रहित और मनवांछित पूर्ण करने वाले चिन्तामणि रत्न के सिवाय अन्य रत्नों को वह पत्थर समान मानने लगा।

वह भाग्यशाली पुरुष उद्यमी होकर चिन्तामणि रत्न के लिये सम्पूर्ण नगर में हाटप्रतिहाट और घरप्रतिघर थके बिना फिर गया।

किन्तु वह उस दुर्लभ मणि को न पा सका, तब वह अपने मा बाप को कहने लगा कि—मैं इस नगर में चिंतामणि नहीं पा सका तो अब उसके लिये अन्य स्थान को जाता हूँ।

उन्होंने कहा कि हे पवित्रबुद्धि पुत्र! चिंतामणि तो केवल कल्पना मात्र ही है, इसलिये जगत में कल्पना के अतिरिक्त अन्य किसी भी स्थान में वह वास्तव में नहीं है।

अतएव अन्यान्य श्रेष्ठ रत्नों से ही जैसा तुझे अच्छा जान पड़े वैसा व्यापार कर, कि जिससे तेरा घर निर्मल लक्ष्मी से भरपूर हो जावे।

ऐसा कहकर मा बापों के मना करने पर भी वह चतुर कुमार चिंतामणि प्राप्त करने के लिये दृढ़ निश्चय करके हस्तिनापुर से रवाना हुआ।

वह नगर, निगम, ग्राम, आगर, खेड़े, पट्टन तथा समुद्र के किनारों में उस चिंतामणि ही की शोध में मन रखकर दुःख सहता हुआ बहुत समय भटकता फिरा।

किन्तु वह कहीं भी उसके न मिलने से उदास होकर विचार करने लगा कि क्या 'वह है हो नहीं' यह बात सत्य होगी? अथवा 'शास्त्र में जो उस का अस्तित्व बताया है वह असत्य कैसे हो सकता है?

यह मन में निश्चय करके वह पुनः पूछ २ कर मणियों की अनेक खज़ाने देखता हुआ खूब फिरने लगा।

फिरते २ उसको एक वृद्ध मनुष्य मिला, उसने उसे कहा कि यहां एक मणीवती नामक मणि की खान है, वहां उत्तम पवित्र उत्तम मणि मिल सकती है।

तब जयदेव निरन्तर वैसी मणियों की शोध करने के लिये वहां जा पहुँचा, इतने में वहां उसे एक अतिशय मूर्ख पशुपाल मिला।

उस पशुपाल के हाथ में जयदेव ने एक गोल पत्थर देखा, तब उसे लेकर उसकी परीक्षा कर देखते उसे चिंतामणि जान पड़ा।

तब उसने हर्षित हो उसके पास से वह पत्थर मांगा, तो पशु-पाल बोला कि, इसका तुझे क्या काम है? तब उसने कहा कि घर जाकर छोटे बालकों को खिलौने के तौर पर दूंगा।

पशुपाल बोला कि ऐसे तो यहां बहुत पड़े हैं, वे क्यों नहीं ले लेता, तब श्रेष्ठि पुत्र बोला कि मुझे मेरे घर जाने की उतावल है।

इसलिये हे भद्र! तू यह पत्थर मुझे दे, कारण कि तुझे तो यहां दूसरा भी मिल जायगा, (इस प्रकार जयदेव के मांगने पर भी) उस पशुपाल को परोपकार करने की टेव हो न होने से वह उसने उसे नहीं दिया।

तब जयदेव ने विचार किया कि–तो भले ही यह रत्न इस का भला करे, परन्तु अफल रहे सो ठीक नहीं, इस प्रकार करुणावान् होकर वह श्रेष्ठि पुत्र उस पशुपाल से कहने लगा कि---

हे भद्र ! जो तू यह चिंतामणि मुझे नहीं देता तो अब तू ही इसको आराधना करना कि जिससे तू जो चिंतवन् करेगा वह यह देगी।

पशुपाल बोला कि–भला, जो यह चिंतामणि है यह बात सत्य हो तो मैं चिंतवन करता हूं कि यह मुझे शीघ्र बेर, केर, कडुम्बर आदि फल देवे।

तब श्रेष्ठि पुत्र हँसकर बोला कि–ऐसा नहीं चिंतवन किया जाता, किन्तु (इसकी तो यह विधि है कि–) तीन उपवास कर अंतिम रात्रि के प्रथम प्रहर में लीपी हुई जमीन पर---

पवित्र बाजोट पर वस्त्र बिछा उस पर इस मणी को स्नान कराके चन्दन से चर्चित करके स्थापित करना, पश्चात् कपूर तथा पुष्प आदि से उसकी पूजा करके विधि पूर्वक उसको नमस्कार करना।

सार्थक करना, इस प्रकार उसने मणि के सन्मुख कहकर पुनः निम्नानुसार कहा।

ग्राम अभी दूर है (तब तक) हे मणि ! तू मेरे सन्मुख कुछ वार्त्ता कह अगर तू नहीं जानती हो तो मैं तुझे कहता हूं, तू एकाग्र होकर सून।

एक हाथ का देवगृह है, उसमें चार हाथ का देव रहता है-- ऐसा वारंवार कहने पर भी मणि तो कुछ भी न बोली।

इतने में वह गुस्सा होकर बोला कि--जो मुझको तू हुंकारा भी नहीं देती तो फिर मनवांछित सिद्ध करने में तेरी क्या आशा रखी जा सकती है।

इसलिये तेरा चिंतामणि नाम झूठा है अथवा वह सत्य ही है क्योंकि तेरे मिलने पर भी मेरे मन की चिन्ता टूटी नहीं।

और मैं जो कि राब और छाछ बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता हूं, वह मैं जो तीन उपवास करूं तो क्या यहां मर न जाऊं ?

इसीलिये उस वणिक ने मुझे मारने के लिये तेरी प्रशंसा करी जान पड़ती है, अतएव जहां पुनः न दीख पड़े वहां चला जा, ऐसा कह उसने वह श्रेष्ठ मणि पटक दी।

(इस समय) श्रेष्ठि पुत्र जयदेव (जो कि पशुपाल के पीछे २ चला आ रहा था) अपना मनोरथ पूर्ण होने से हर्षित होकर प्रणाम पूर्वक उक्त चिंतामणि लेकर अपने नगर की ओर चला।

अब उस जयदेव ने चिंतामणि के प्रभाव से धनवान हो मार्ग में महापुर नामक नगर निवासी सुबुद्धि श्रेष्ठि की कन्या रत्नवती से विवाह किया तथा बहुत से नौकर चाकर साथ में ले चलता हुआ और लोगों से प्रशंसित होता हुआ वह अपने हस्तिनापुर नामक नगर में आकर मा बाप के चरण में पड़ा।

तब मा बाप ने उसे आशीर दी और स्वजन सम्बंधियों ने उसका सन्मान किया, तथा नगर के लोगों ने उसकी प्रशंसा की, इस प्रकार वह भोग भाजन हुआ।

इस दृष्टान्त की खास तुलना यह है कि--अन्य याने सामान्य मणियों की खान समान देव-नारक-तिर्यंच रूप गतियों में भटकते हुए जैसे तैसे करके जीव इस उत्तम मणि वाली खानसमान मनुष्य गति को पा सकता है, और इसमें भी चिंतामणि के समान जिन भाषित धर्म पाना (बहुत ही) दुर्लभ है।

व जैसे सुकृत नहीं करने वाला पशुपाल उक्त मणि रख न सका परन्तु पुण्यरूप धनवान वणिक पुत्र उसको प्राप्त कर सका, वैसे ही गुणरूप धन से हीन जीव यह धर्मरत्न पा नहीं सकता, परन्तु सम्पूर्ण निर्मल गुणरूप बहुत धनवान (ही) उसको पा सकता है।

यह दृष्टान्त भलीभांति सुनने के बाद जो तुम्हें सद्धर्मरूप धर्म ग्रहण करने की इच्छा हो तो अपार दरिद्रता को दूर करने में समर्थ सद्गुण रूपी धर्म को उपार्जन करो।

इस प्रकार पशुपाल की कथा है, और इस प्रकार (गाथा का अर्थ पूर्ण हुआ)।

(अब चौथी गाथा का अवतरण करते हैं:—

अब कितने गुण वाला होवे जो धर्म पाने के योग्य हो? यह प्रश्न मन में लाकर उत्तर देते हैं:—

इगवीसगुणसमेओ, जुग्गो एयस्स जिणमए भणिओ।
तदुवज्जणंमि पढमं, ता जइयव्वं जओ भणियं ॥ ४ ॥

अर्थ—इक्कीस गुणों से जो युक्त होवे वह सबसे प्रथम इस धर्मरत्न के योग्य माना जाता है, ऐसा जिन शासन में कहा है, अतएव

उन इक्वीस गुणों को उपार्जन करने का यत्न करना चाहिये, जिसके लिये पूर्वाचार्यों ने आगे लिखे अनुसार कहा है।

ये इकवीस गुण जो कि आगे कहे जायंगे उनसे (जो) समेत याने युक्त हो अगर पाठान्तर में ('समिद्धो' ऐसा शब्द लें तो उसका यह अर्थ होता है कि-) समृद्ध याने संपूर्ण होवे अथवा समिद्ध याने देदीप्यमान हो-वह इस को याने प्रस्तुत धर्मरत्न को योग्य याने उचित, जिनमत में याने अर्हत् के शासन में भणित यान प्रतिपादित किया हुआ है-(किसने प्रतिपादन किया है ? इसके उत्तरमें) उस बात के जानकारों ने-इतना उपर से ले लेना,

उससे क्या [सिद्ध हुआ] सो कहते हैं-उसके उपार्जन में याने कि उन गुणों का उपार्जन याने वृद्धि के काम में-प्रथम याने सवस आदि में उनके लिये यत्न करना,

यहां यह आशय है कि-जैसे महल बांधने की इच्छा करने वाले जमीन साफ करके नींव आदि को मजबूती करते हैं, क्योंकि उससे ही उतना मजबूत महल बांधा जा सकता है-वैसे ही धर्मार्थियों ने भी ये गुण बराबर उपार्जन करना, कारण कि वैसा करने ही से विशिष्ट धर्म समृद्धि प्राप्त की जा सकती है, जिसके लिये [आगे कहा जायगा उसके अनुसार] भणित याने कहा हुआ है, [किसने कहा हुआ है तो कि] पूर्वाचार्यों ने. इतना ऊपर से समझ लेना।

क्या कहा हुआ है वही कहते हैं:---

धम्मरयणस्स जुग्गो, अक्खुद्दो १ रूववं २ पगइसोमो ३,
लोगप्पिओ ४ अक्रूरो ५ भीरू ६ असढो ७ सुदक्खिण्णो ८
लज्जालुओ ९ दयालु १० मज्झत्थो सोमदिट्ठि ११ गुणरागी १२

सक्कह १२ सुपक्खजुत्तो १४, सुदीहदंसी १५ विसेसन्नू १६
वुड्ढाणुगो १७ विणीओ १८, कयण्णुओ १९ परहियत्थकारी य ।
तह चेव लद्धलक्खो २१, इगवीसगुणेहिं संपन्नो ॥७॥

अर्थ—जो पुरुष अक्षुद्र, रूपवान, शान्त प्रकृति, लोकप्रिय अक्रूर, पाप भीरू, निष्कपटी, दाक्षिण्यतावान्, लज्जालु, दयालु, मध्यस्थ, सोमदृष्टि, गुणरागी, स्वजन संबंधियों के साथ प्रीति रखने वाला, दीर्घदर्शी, गुणदोषज्ञ, वृद्धानुगामी, विनीत, कृतज्ञ, परोपकारी और समझदार, ऐसे इकवीस गुण वाला होवे वह धर्म रूप रत्न का पात्र हो सकता है। ५-६-७

धर्मों में जो रत्न समान प्रवर्त्तित है वह जिनभाषित देश-विरति और सर्वविरति रूप धर्म धर्मरत्न कहलाता है—उसको योग्य याने उचित-वह होता है कि-जो 'इकवीस गुण से संपन्न हो' इस प्रकार तीसरी गाथा के अंत में जो पद है वह साथ में जोडना।

उन्हीं गुणों को गुण गुणिका कितनेक प्रकार से अभेद बताने के लिये गुणिवाचक विशेषणों से कह बताते हैं-यहां 'अक्खुद्दो' इत्यादि पद बोलना.

यहां अक्षुद्र याने अनुत्तान मतिवाला हो-अर्थात् जो क्षुद्र याने उद्दंड या कम बुद्धि न हो उसे अक्षुद्र जानना. १

रूपवान्, अर्थात् सुन्दर रूप वाला अर्थात् जो अच्छी पांच इन्द्रियों वाला हो—यहां मत् प्रत्यय प्रशंसा का अर्थ बतलाता है, फक्त रूप मात्र बतलाना हो तो इन् प्रत्यय ही आता है, जैसे कि 'रूपिणः पुद्गलाः प्रोढता' रूपि पुद्गल कहे हुए हैं [इस जगह रूपि याने रूपवाले इतना ही अर्थ होता है] २

प्रकृति सोम याने कि स्वभाव ही से पापकर्म से दूर रहने वाला होने से जो शांत स्वभाव वाला होय. ३

लोकप्रिय याने कि हमेशा सदाचार में प्रवृति वाला होने से जो सब लोगों को प्रिय लगे. ४

अक्रूर याने कि चित्त में गुस्सा न रखने से जो शान्त मन वाला हो. ५

भीरू याने कि इस भव और परभव के अपाय से जो डरने वाला हो. ६

अशठ याने कि जो दूसरों को ठगने वाला न होने से निष्कपटी हो. ७

सुदाक्षिण्य याने कि किसी की भी प्रार्थना का भंग करते डरने वाला होने से जो दाक्षिण्य गुण वाला हो. ८

लज्जालु याने अकार्य का आचरण करते शरमा कर उसको जो वर्जित करने वाला हो. ९

दयालु याने प्राणियों पर अनुकंपा रखने वाला हो. १०

मध्यस्थ याने राग द्वेष रहित हो—इसी से वह सोमदृष्टि याने ठीक तरह से धर्म विचार को समझने वाला होने से [शांत दृष्टि से] दोष को दूर करने वाला होता है, मूल में 'सोमदिट्ठि' इस स्थान पर प्राकृतपन से विभक्ति का लोप किया है. इस जगह मध्यस्थ और सोमदृष्टि इन दो पदों से एक ही गुण लेने का है. ११

गुणरागी याने गुणों का पक्षपाती अर्थात् गुणों की ओर झुकने वाला हो. १२

सुकथा याने धर्मकथा वह जिसको अभीष्ट हो वह सत्कथ अर्थात् धर्म कथा कहने वाला हो. १३

सुपक्ष युक्त याने कि सुशील और विनीत परिवार वाला हो. १४

सुदीर्घदर्शी याने भलीभांति विचार कर जिसका परिणाम उत्तम हो ऐसे कार्य का करने वाला हो. १५

विशेषज्ञ याने कि अपक्षपाती होकर गुण दोष की विशेषता को जानने वाला हो. १६

वृद्धानुग याने वृद्धों का अनुसरण करने वाला अर्थात् पक्की बुद्धि वाले पुरुषों की सेवा करने वाला हो. १७

विनीत याने कि अधिक गुण वालों को मान देने वाला हो. १८

कृतज्ञ याने दूसरे के किये हुए उपकार को न भूल ने वाला हो. १९

परहितार्थकारी याने निःस्वार्थता से पर कार्य करने वाला हो—प्रथम सुदाक्षिण्य ऐसा विशेषण दिया है, उसमें और इस विशेषण में इतना अन्तर जानना कि—सुदाक्षिण्य याने दुसरा याचना करे तब उसका काम कर दे और यह तो स्वतः पर हित करता है. २०

'तहचेव' इस शब्द में तथा शब्द प्रकार के लिये है, चः समुच्चय के लिये है और एव शब्द अवधारण के लिये है, जिससे इसका अर्थ यह है कि—जैसे ये बीस गुण कहे हैं उसी प्रकार लब्ध-लक्ष्य भी होना चाहिये और जो ऐसा हो वह धर्म का अधिकारी होता है ऐसा पद योग करना.

लब्धलक्ष्य इस पद का अर्थ इस प्रकार है कि लब्ध कहते लगभग पाया है लक्ष्य याने पहिचानने लायक धर्मानुष्ठान का व्यवहार जिसने वह लब्धलक्ष्य अर्थात्समझदार होने से जिसे सुख से सिखाया जा सके वैसा हो, २१

इस प्रकार इकवीस गुणों से जो सम्पन्नहो वह धर्मरत्न के योग्य होता है ऐसा (पहिले) जोड़ा ही है. इस प्रकार तीन द्वार गाथाओं का अर्थ हुआ।

(प्रथम गुण)

आठवीं गाथा का अवतरण करते हुए अब सूत्रकार स्वयं ही भावार्थ का वर्णन करने को इच्छुक होकर अक्षुद्र यह प्रथम गुण प्रकटत: बताते हैं।

खुद्दो त्ति अगंभीरो, उत्ताणमई न साहए धम्मं ।
सपरोवयारसत्तो, अक्खुद्दो तेण इह जुग्गो ॥ ८ ॥

अर्थ—क्षुद्र याने अगंभीर अर्थात् उद्धत बुद्धिवाला जो होवे वह धर्म को साधना नहीं कर सकता, अतएव जो स्वपर का उपकार करने को समर्थ रहे वह अक्षुद्र अर्थात् गंभीर हो उसे यहां योग्य जानना.

यद्यपि क्षुद्रशब्द क्रूर, दरिद्र, लघु आदि अर्थों में उपयोग किया जाता है तथापि यहां क्षुद्र शब्द से अगंभीर कहा है-वह तुच्छ होने से उत्तानमति याने तुच्छ बुद्धिवाला होता है जिससे वह भीम के समान धर्म साधन नहीं कर सकता, कारण कि धर्म तो सूक्ष्म बुद्धि वालों ही से साधन किया जा सकता है, जिसके लिये कहा है कि—

सूक्ष्मबुद्ध्या सदा ज्ञेयो धर्मो धर्मार्थिभिर्नरैः ।
अन्यथा धर्म बुद्ध्यैव तद्विघातः प्रसज्यते ॥१॥

धर्मार्थि मनुष्यों ने सदैव सूक्ष्मबुद्धि द्वारा धर्म को जानना चाहिये, अन्यथा धर्मबुद्धि ही से उलटा धर्म का विघात हो जाता है।

जैसे कोई कम बुद्धिवाला पुरुष रोगी को औषधि देने का अभिग्रह ले, रोगी के नहीं मिलने पर अन्त में वह शोक करने लगता है कि—

अरे! मैंने उत्तम अभिग्रह लिया था, परन्तु कोई रोगी नहीं हुआ, इससे मैं अधन्य हूँ कि मेरा अभिग्रह सफल नहीं हुआ।

(तब वह वामन बोला कि) यह कार्य तो बिलकुल सरल है, यह कह कर वह राजा की आज्ञा ले बहुत से मित्रों सहित उनके घर जाकर विविध कथाएं कहने लगा.

इतने में एक मित्र ने कहा कि हे मित्र ! ऐसी बातों का काम नहीं, किन्तु कोई कान को सुख देने वाला चरित्र कह सुना, तब वामन कहने लगा, ।

जमीन रूप स्त्री के कपाल में मानो तिलक हो वैसा तिलकपुर नामक एक नगर था । वहां याचक लोगों के मनोरथ को पूर्ण करने वाला मणिरथ नामक राजा था ।

पवित्र और प्रशंसनीय शील से निर्मल मालती को जीतने वाली मालती नामक उसकी रानी थी । और उनका जगत् को वश में रखने वाला विक्रमी विक्रम नामक पुत्र था ।

वह राजकुमार अपने महल के पड़ौस के किसी घर में किसी समय संध्या को किसी का बोला हुआ कर्ण मधुर (निम्नाङ्कित वाक्य) सुनने लगा ।

अपना पुण्य कितना है उसका परिमाण, गुणों की वृद्धि तथा सुजन दुर्जन का अन्तर (ये तीनों बातें) एक स्थान में रहने वाले मनुष्य से नहीं जानी जा सकती--इससे चतुरजन पृथ्वी पर्यटन करते हैं ।

तब अत्यंत करुणातुर होकर उसने तालाब में से पानी लाकर उसे पिला कर (तथा साथ ही उसको) हवा करके सावधान किया।

पश्चात् राजकुमार उसे पूछने लगा कि, हे महाशय ! तू कौन है और तेरी यह दशा किस प्रकार हुई है? तब वह घायल पुरुष कहने लगा कि, हे सुजन शिरोमणि ! सुन, मैं सिद्ध नामक योगी हूं।

मैं मुझ से अधिक विद्या बल वाले एक दुश्मन योगी द्वारा इस अवस्था को पहुंचाया हुआ हूं—तो भी, हे गुणवान् ! तूने मुझे सावधान किया है।

पश्चात् प्रसन्न हो राजकुमार को गरूड़ मंत्र देकर अपने स्थान को गया, और वह राजकुमार इस नगर में आया।

रात्रि होने पर उसने कामदेव के मंदिर में विश्राम किया; वहां वह बराबर जागता हुआ लेटा हुआ ही था कि, इतने में वहां एक तरुण स्त्री कामदेव की पूजा करने आई।

तदनंतर वह बाहिर निकलकर कहने लगी कि—हे वनदेवता माताओं ! तुम ठीक तरह सुनो; मैं यहां के वासव नामके राजा की कमला नामक एक सुखी कन्या हूँ।

मेरे पिता ने मुझे मणिरथ राजा के पुत्र विक्रमकुमार को उसके उज्वल गुणों से आकर्षित होकर दी हुई है; तथापि वह कुमार अभी कहां गया है सो मालूम नहीं होता।

अतएव जो इस भव में वह मेरा भर्तार न हुआ तो आगामी भव में होवे, यह कह कर वह युवती वड़ के वृक्ष में फांसी बांध कर उसमें अपना गला डालने लगी।

इतने ही में विक्रमकुमार (दौड़ता हुआ वहां जाकर) 'दुस्साहस मत कर' यह बोलता हुआ फांसी को छुरे द्वारा काट कर कमल समान सुकोमल वचनों से कमला को रोकने लगा।

इतने में अपनी पुत्री की तलाश करने के हेतु सुभट तथा सेवकों को लेकर निकला हुआ वासव राजा भी वहां आ पहुंचा, और उस कुमार को देख कर हर्षित हो इस प्रकार कहने लगा कि,

हम जिस समय हमारे मित्र मणिरथ को मिलने के लिये तिलकपुर आये थे, उस समय हे दाक्षिण्यपूर्ण कुमार ! तुझे हमने बाल्यावस्था में देखा है.

इसलिये सूर्य के साथ प्रेम रखने वाली यह पति के साथ नित्य प्रेम रखना सीखी हुई कमला नामक मेरी कन्या तेरे दक्षिण हाथ को प्राप्त करके सुखी हो.

इस प्रकार मधुर और गंभीर वाणी से वासव राजा के प्रार्थना करने से, त्रिविक्रम अर्थात् श्रीकृष्ण ने जैसे कमला याने लक्ष्मी से विवाह किया था वैसे ही विक्रम कुमार ने कमला से विवाह किया,

दूसरे दिन प्रातःकाल राजा ने हर्ष पूर्वक वर वधु को नगर में प्रवेश कराया और वे वहां राजा के दिये हुए प्रासाद में क्रीड़ा करते हुए रहने लगे.

(इस प्रकार उक्त वामन पुरुष ने बात कही तब) कमला पूछने लगी कि, भला, आगे क्या हुआ सो कहो, तब वामन बोला कि अभी तो राज सेवा का समय हो गया है, यह कह वह चलागया- दूसरे दिन आकर उसने निम्नानुसार बात प्रारंभ की.

अब एक समय रात को किसी रोती हुई स्त्री का करुण शब्द सुन कर उस शब्द के अनुसार चलता हुआ कुमार स्मशान में पहुंचा.

वहां उसने एक अश्रुपूर्ण भयभीत नेत्रवाली स्त्री को देखा, तथा उसके सन्मुख एक योगी को खड़ा हुआ देखा, वैसे ही एक प्रज्वलित अग्नि का कुण्ड देखा।

तब महाबलवान् कुमार (उक्त बनाव देखने के लिये) क्षणभर छिपी हुई जगह खड़ा रहा, इतने में विषम काम के जोर से पीडित योगी उक्त बाला को कहने लगा कि- हे श्वेत शतपत्र के पत्र-समान नेत्रवाली ! मुझे तेरा पति मान कर अनुग्रह करके स्पर्श कर कि-जिससे तू सकल रमणीय रमणियों में चूड़ामणि समान मानी जावेगी। तब वह रोती हुई बाला बोली कि- तू व्यर्थ अपनी आत्मा को क्यों बिगाड़ता है, तू चाहे इन्द्र या कामदेव हो तो भी तेरे साथ मुझे काम नहीं।

यह सुन रुष्ट हुआ जोगी ज्योंही बलात्कार अपने हाथ से उसे पकड़ने लगा, त्योंही उस बाला ने चिल्लाया कि- हाय हाय !! यह पृथ्वी अनाथ है कारण कि मैं श्रीपुर नगर के राजा जयसेन की पुत्री कमलसेना हूं, और मेरे पिता ने मुझे मणिरथ राजा के पुत्र विक्रमकुमार को दी हुई है।

हाय हाय ! (मुझ पर) यह कोई विद्याबल वाला जुल्म करने को तयार हुआ है, यह सुन छिपा हुआ कुमार विक्रम अत्यन्त क्रोध के साथ वहां आकर उससे कहने लगा कि-जो मर्द हो तो हथियार ले ले और तेरे इष्ट देव का स्मरण करले, कारण कि- हे पापिष्ठ ! तू परस्त्री की अभिलाषा करता है अतएव अपने को मरा हुआ ही समझ ले। तब योगी भयभीत होकर कहने लगा कि- हे कुमार ! तूने मुझे परस्त्री का स्पर्श करते रोक कर वास्तव में नरक में पड़ने से बचाया है। पश्चात् वह योगी उसको उपकारी मानता हुआ रूप परावृत्ति करने वाली विद्या देकर कहने लगा कि तेरे भारी पराक्रम व साहस के गुणों से तथा तेरी ओर फिरी हुई इस कुमारी की दृष्टि से मैं सोचता हूं कि-तू विक्रमकुमार है। तब विक्रमकुमार

भी कहने लगा कि-इंगित आकार पहिचानने में तू
पड़ता है। तदनन्तर उस योगी की प्रार्थना से विश्र
बाला से विवाह कर योगी को विदा कर स्त्री के साथ
के बगीचे में आ पहुंचा। यह सुन कमलसेना पूछ
भला, उसके बाद उसका क्या हुआ, तब उक्त वामन
कि राजसेवा का वक्त हो गया है वहां से रवाना हुअ

अब तीसरे दिन वामन वहां आकर पुनः इस
लगा कि-विक्रम कुमार ज्यों ही उद्यान में आकर
साथ क्रीड़ा करने लगा त्योंही उसको किसी ने आक
परकार्य करने में तत्पर रहनेवाले कुमार! आज मेरा
दे। तब कुमार बोला कि, तैयार हूँ। कारण कि जी
यह ही है।

तब वह कुमार को विमान पर चढ़ाकर वैताढ्य
कनकपुर के विजय नामक राजा के पास लेगया, वह
उसे यह कहा, हे कुमार! भद्दिलपुर का स्वामी धूम
शत्रु है। उसे जीतने के लिये मैंने कुल देवता की अ
उसने बताया कि इस कार्य में तू समर्थ है, इसलिये
मिनी आदि विद्याएं ले. तदनुसार कुमार ने उक्त विद्य
अब बहुतसी विद्याओं को सिद्ध कर घोड़े, हार्थ
की सैना लेकर चढ़आते हुए विक्रमकुमार की बात
केतू राजा घबराया और अतुल लक्ष्मीसंपन्न अपने र
कर भाग गया जिससे उस राज्य को वश में कर शत्रु
कुमार भी वापस स्वस्थान को आया।

तब विजय राजाने भी बहुत हर्षित होकर अप
नामक पुत्री का कुमार से विवाह कर दिया, जिससे

वह वहीं रहा। अब वह कुमार अपनी प्रथम की स्त्रीयों को देखने के लिये एक दिन सुलोचना को साथ ले इसी नगर में पुनः अपने महल के उद्यान में आ पहुँचा, तब सुलोचना पूछने लगी कि वह कुमार कहां गया है, सो कह। तब वामन हँसता हुआ बोला कि तुम जैसी बेकार हो वैसा मैं नहीं, यह कहकर वहां से उठ निकला।

अपना २ चरित्र सुनने से साथ ही अपने २ अनुकूल अंगस्फुरण पर से उन युवतियों ने तर्क किया कि-यह वामन अन्य कोई नहीं परन्तु रूप परिवर्तित किया हुआ हमारा पति ही होना चाहिये।

अब एक समय राजमार्ग में चलते हुए वह वामन किसी घर में करुण स्वर से रुदन होता सुन कर किसी से पूछने लगा कि-यहां रुदन किसलिये किया जा रहा है। वह बोला कि तिलकमंत्री की सरस्वती नामक पुत्री घर पर खेल रही थी इतने में उसे काले सांप ने डस लिया है। इससे उसकी विषवैद्यों ने (भी) छोड़ दिया है। इसलिये उसके मां बाप तथा स्वजन आशा छूट जाने से उन्मुक्त कंठ से यहां बहुत रुदन कर रहे हैं। यह सुन वामन कहने लगा कि-हे भद्र! चलो, अपन मंत्री के घर में चलें, (कि जिससे) उक्त बाला को मैं देखूं, और बने वहां तक मैं भी कुछ उद्यम-उपाय करूं। यह कहने के बाद उसके साथ वामन मंत्री के घर में पहुँचा, और प्रौढ़ मंत्र के प्रभाव से शीघ्र ही उक्त बाला को सचेत करने लगा। तब मंत्री ने प्रार्थना करी कि- जैसे तुझने अपना विज्ञान बताया वैसा ही तेरा वास्तविक रूप भी प्रगट कर। जिससे उसने क्षणभर में नट के समान अपना मूलरूप प्रगट किया। उसका श्रेष्ठ रूप देखकर तिलकमंत्री अत्यन्त विस्मित होगया, इतने ही में चारण लोगों ने स्पष्टतः निम्नाङ्कित जयघोष किया।

मणिरथ राजा के कुल में चन्द्रमा समान, महादेव, हीरे के हार और श्वेत हथिनी के समान उज्जवल यशवाले, त्रैलोक्य में

प्रसरित पराक्रमवान् हे विक्रमकुमार ! तू चिरकाल जयवन्त रह।

तब मंत्री ने विक्रमकुमार को उत्तम कुल, उत्तम रूप और उत्तम पराक्रम वाला देख कर हर्षतोष से उसके साथ अपनी कन्या का पाणिग्रहण किया। यह बात सुनकर अपनी पुत्री कमला का उसे पति जान कर हर्षित हुए वासव राजा ने सारे नगर में महोत्सव कराया।

इसके बाद राजाने उक्त कुमार को मंत्री के घर से धूमधाम के साथ अपने घर पर बुलाया। वहां वह अपनी सब स्त्रीयों के साथ देव के समान सुख पूर्वक रहने लगा।

अब किसी समय विक्रमकुमार के पिता की ओर से पत्र आने से प्रेरित होकर कुमार अपने श्वसुर राजा की आज्ञा ले चारों स्त्रीयों के साथ तिलकनगर में आ पहुंचा। (वहां आकर) कुमार ने माता पिता को प्रणाम किया. इतने में उद्यानपाल ने आकर राजा को विदित किया कि-श्री अकलंक नामक सूरि (उद्यान में) पधारे हैं। तब कामदेव के समान झलकते ठाठवाठ से कुमार सहित राजाने गुरु को वंदन करने के लिये जाते हुए मार्ग में एक मनुष्य को देखा। वह मनुष्य किलविल करते कीड़ों की जाल से भरा हुआ, मक्षिकाओं से व्याप्त, निकृष्ट कुष्ठ से फूटे हुए मस्तक वाला और अति दीन-हीन स्वरवाला था। उस अरिष्ट मंडल के समान न देखने योग्य मनुष्य को देख कर राजा विषाद से मलीन मुख होकर गुरु के समीप आकर, वंदना करके धर्मकथा सुनने लगा।

(गुरु उपदेश देने लगे कि-) यह जीव अनादि काल से शरीर के साथ कर्मबन्धन के संयोग से मिलकर हमेशा दुःखी रहता हुआ, अनादि से सूक्ष्म वनस्पतिकाय में रहकर अनंतों पुद्गलपरावर्त्त वहां पूरे करता है। पश्चात् बादर स्थावरों में आकर वहां से जैसे

तैसे जीव त्रसपना पाता है, वहां से जो लघु कर्म हो तो पंचेन्द्रियत्व पाता है। वहां भी पुण्यवान् न हो तो आर्य क्षेत्र में मनुष्यत्व नहीं पा सकता, कदाचित् आर्य क्षेत्र में जन्मे तो भी कुल जाति वल और रूप मिलना कठिन हो जाता है यह सब कदाचित् पावे-तथापि अल्पायु अथवा व्याधिग्रस्त होता है। दीर्घायुषी और निरोगी तो पुण्ययोग ही से हो सकता है। निरोगीपना प्राप्त होने पर भी-ज्ञाना-वरण तथा दर्शनावरण कर्म के बल से विवेकहीन जीव जिनधर्म नहीं पा सकता। जिनधर्म पाकर भी दर्शन मोहनीय कर्म के उदय के कारण जीव शंकादिक से कलुषित हृदय होकर गुरु वचन को ग्रहण नहीं कर सकता। निर्मल सम्यक्त्व पाकर गुरु के वचन को सत्य माने, तो भी ज्ञानावरण के उदय से गुरु के कहते हुए भी उसका मर्म नहीं समझ सकता। कदाचित् कहे हुए (मर्म को) भी समझे साथ ही स्वयं समझ कर दूसरे को भी बोधित करे, तो भी चारित्र-मोह के दोष से स्वयं संयम नहीं कर सकता। चारित्र-मोह-नीय क्षीण होते जो पुरुष निर्मल तपसंयम करे वह मुक्ति सुख पाता है ऐसा वीतराग ने कहा है।

चुल्लक, पाशक, धान्य, यूथ, रत्न, स्वप्न, चक्र, चर्म, धूसर, पर-माणु ये दश दृष्टान्त शास्त्र में प्रसिद्ध हैं। इन दशों दृष्टान्तों द्वारा यह सर्व मनुष्य-भव क्रमशः दुर्लभ है, अतएव उसे पाकर जिनेश्वर के धर्म से उसे सफल करो।

अब (देशना पुरी हो जाने से) अवसर पाकर राजा कहने लगा कि, हे भगवान ! मेरे देखे हुए उस अतिशय दुष्ट रोगवाले ने (पूर्व भव में) क्या पाप किया होगा ? तब इस जगह मुनिश्वर (निम्नांकित) उत्तर देने लगे।

मणिओं से सजाये हुए मंदिरों से सुशोभित मणिमंदिर नगर में सोम और भीम नाम के दो कुल पुत्र थे। वे (परस्पर मित्र होकर)

सदैव साथ रहते थे। वे दोनों दूसरे की चाकरी करके आजीविका चलाते थे। सोम गहरी बुद्धिवाला होने से अक्षुद्र भद्रपरिणामी और विनीत था, व भीम उससे प्रतिकूल गुणवाला था उन दोनों ने एक दिन कहीं जाते हुए सूर्य की किरणों से झगझगित व मेरू-पर्वत समान विशाल जिनमंदिर देखा। तब सूक्ष्म बुद्धि सोम भीम को कहने लगा कि-अपन ने पूर्व भव में कुछ भी सुकृत नहीं किया, इसी से यह पराई चाकरी करनी पड़ती है। जिससे मनुष्यत्व तो सबका समान है, तो भी एक स्वामी होता है और दूसरे उसके पांव पर चलने वाले चाकर होते हैं। यह बिना कारण कैसे हो सकता है? इसलिये यह सुकृत व दुष्कृत ही का फल है। अतः चलो, देव को नमन करें और दुःखों को जलांजलि देकर दूर करें। तब उद्धत-बुद्धि भीम वाचाल होने से बोलने लगा कि—

हे सोम! इस जगत् में पंचभूत की गड़बड़ के अतिरिक्त आकाश के फूल के समान अन्य जीव नाम का कोई पदार्थ ही नहीं, तो फिर देव आदि कहां से हों? इसलिये हे भोले! तू पाखंडियों के मस्तिष्क के अति भयंकर तांडवाडंबर से मुग्ध होकर अल्पमति हो देव-देव पुकार कर अपने आपको क्यों हैरान करता है?।

इस प्रकार भीम के निवारण करते हुए भी सोम (चन्द्र) के समान निर्मल बुद्धिरूप चंद्रिकावाला सोम जिन मंदिर में जा, जगत् बन्धु जिनेश्वर को नमन करके पाप शमन करता हुआ साथ ही एक रुपये के फूल लेकर उसने उत्कृष्ट भक्ति से जिनेश्वर की पूजा करी। उस पुण्य के कारण से उसने मनुष्य के आयुष्य के साथ बोधिबीज उपार्जन किया।

वही सोम वहां से मरकर हे मणिरथ राजा! तेरा पूर्ण पुण्य-शाली और कामदेव समान विक्रमकुमार नामक पुत्र हुआ है। और

क्षुद्रमति भीम जिनादिक की निंदा में परायण रहकर, मरकर के यह कुष्ठी हुआ है और अभी अनन्त भव भ्रमण करेगा।

(गुरु की यह बात सुनकर) विक्रमकुमार ने जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त कर हर्ष से उल्लसित व रोमांचित हो गुरु के चरण कमल को नमन करके अति रमणीय श्रावकधर्म ग्रहण किया. मणिरथ राजा भी विक्रमकुमार को राज्यभार देकर दीक्षा ले, केवलज्ञान पा मोक्ष को पहुंचा।

जिनमंदिर, जिनप्रतिमा तथा जिन की रथयात्रा करने में तत्पर रहता हुआ, मुनियों की सेवा में आसक्त, दृढ सम्यक्त्वधारी, निर्मल चित्त विक्रमराजा पूर्ण कलावान् प्रति पूर्ण मंडल युक्त और दुरित अंधकार के विस्तार को नाशकरने वाला चन्द्रमा जैसे कुवलय को विकसित करता है, वैसे पूर्ण कला से समस्त मंडल को वश कर पापरूप अन्धकार का नाश करके पृथ्वी के वलय को सुखमय करने लगा। पश्चात् कितनेक दिन के अनन्तर विक्रमराजा ने अपने पुत्र को राज्य धुरी का भार सौंप कर अकलंकसूरि के पास दीक्षा ग्रहण की।

इस प्रकार अक्षुद्र याने गंभीर और सूक्ष्म बुद्धिमान हो, बहुत ज्ञान प्राप्त कर विधि से मृत्यु को प्राप्त हो स्वर्ग में पहुंचा और अनुक्रम से मोक्ष को पहुंचेगा। इस प्रकार अक्षुद्र गुणवान की समृद्धि और क्षुद्र जनों का वृद्धित हुआ संसार सुनकर श्रद्धावान्, शांतवृत्ति श्रावक जनों ने सदैव शांत रहकर अक्षुद्रता धारण करना चाहिये।

इस प्रकार सोम और भीम की कथा है।

अक्षुद्रता रूप प्रथम गुण कहा, अब रूपवत्त्व रूप दूसरा गुण कहते हैं।

संपुन्नंगोवंगो, पंचिंदियसुन्दरो सुसंघयणो।
होइ पभावणहेऊ, खमो य तह रूववं धम्मे ॥ ९ ॥

अर्थ—संपूर्ण अंगोपांगयुक्त, पंचेन्द्रियों से सुन्दर व सुसंहनन वाला हो वह रूपवान माना जाता है, वैसा पुरुष वीरशासन की शोभा का कारण भूत होता है और धर्म पालन करने में भी समर्थ रहता है। सम्पूर्ण याने अन्यून हैं अंग याने मस्तक, उदर आदि और उपांग याने अंगुलियां आदि जिसके वे संपूर्णांगोपांग कहलाते हैं। सारांश कि-अखंडित अंगवाला। पंचेन्द्रिय सुन्दर याने कि-काना, क्षीणस्वर, बहिरा, गूंगा न होते हुए पंचेन्द्रियों से सुशोभित। सुसंहनन याने शोभन संहनन कहते शरीर बल है जिसका उसे सुसंहनन जानो। तथा यह न समझना कि प्रथम संहनन वाला ही धर्म पाता है, क्योंकि बाकी के संहननों में भी धर्म प्राप्त किया जा सकता है। जिसके लिये कहा है कि:—

"सर्व संस्थान और सर्व संहननों में धर्म पा सकता है."

सुसंहनन वाला होवे तो वह तपसंयमादिक अनुष्ठान करने में समर्थ रह सकता है ऐसा यह विशेषण देने का अभिप्राय है। ऐसा पुरुष धर्म अंगीकृत करे तो क्या फल होता है सो कहते हैं। ऐसा पुरुष प्रभावना का हेतु याने तीर्थ की उन्नति का कारण होता है, वैसे ही रूपवान पुरुष धर्म में याने कि धर्म करने के विषय में समर्थ हो सकता है, कारण कि-वह संपूर्णांग से सामर्थ्ययुक्त होता है। इस जगह सुजात का दृष्टान्त बताऊंगा।

नंदिषेण और हरिकेशिबल आदि तो कुरूपवान् थे तो भी उन्होंने धर्म पाया है यह कह कर रूपवानपने का व्यभिचार न बताना चाहिये क्योंकि वे भी संपूर्ण अंगोपांगदिक से युक्त होने से रूपवान ही गिने जाते हैं, और यह बात भी प्रायिक है, कारण कि अन्य गुण का सद्भाव हो तो फिर कुरूपपन अथवा अन्य किसी गुण का अभाव हो उससे कुछ दोष नहीं आता। इसी से आगे मूल ग्रंथकार ही कहने वाले हैं कि:—

" चतुर्थ भाग गुण से हीन हो वह मध्यम पात्र और अर्ध भाग गुण से हीन हो वह अधम पात्र है. "

सुजात की कथा इस प्रकार है।

दुश्मनों के दल से अकंपित चंपानामक नगरी में प्रताप से सूर्य की प्रभा को जीतनेवाला मित्रप्रभ नामक राजा था। उसकी धारणी नामक रानी थी। वहां धर्मपरायण और सुजनरूप कमलवन को आनन्द देने को सूर्य समान धनमित्र नामक श्रेष्ठि था। उसकी लक्ष्मी समान उत्तम रूप लावण्यवाली धनश्री नामक भार्या थी। उनको सैंकड़ों उपायों से लोगों के चित्त को चमत्कार करने वाला साथ ही शरीर की कांति से चकचकित एक पवित्र पुत्र प्राप्त हुआ। वह पुत्र रिद्धियुक्त कुल में उत्पन्न हुआ जिससे लोग कहने लगे कि इसका जन्म सुजात है। इसीसे उसका नाम सुजात रखा गया।

वह प्रतिपूर्ण अंगोपांगयुक्त तथा अनुपम लावण्य व रूपवान् होकर सर्व कलाओं में कुशल होकर क्रमशः यौवनावस्था को प्राप्त हुआ। वह कभी तो जिनेश्वर की स्तुति तथा पूजा में वाणी और पाणि (हाथ) को प्रवृत्त करता और कभी भ्रमर के समान गुरु के निर्मल पद कमलों की सेवा करता था। (और कभी) जिनप्रवचन की प्रभावना करा कर अपने को पवित्र करता. (और) कभी जिन-सिद्धान्त रूप अमृतरस को अपने कर्णपुट द्वारा पीता था। और ललित मनहर और सहृदय (मर्मज्ञ) जनों के हृदय को पकड़ने वाले वाक्यों द्वारा न्याय से विराजते नगर में वह सकलजन को आनन्द देता था।

उसी नगर में धर्मघोष नामक मंत्री की प्रियंगु नामक पत्नी थी। उसने (एक दिन) पीसना पीसने को भेजी हुई दासियों को विलम्ब से आने के कारण उपालम्भ (ठपका) देने लगी। तब

दासियां कहने लगी कि–हे स्वामिनी ! तू हम पर क्रोध न कर, कारण कि जगत् में अद्वितीय सुजातकुमार का रूप देखने के लिये किसका हृदय मोहित नहीं होता-(इससे हमको विलम्ब हुआ।) (यह सुन) मंत्रिप्रिया दासियों को कहने लगीं कि–हे दासियों ! जब उस कुमार को इस रास्ते से जाता देखो तब मुझे सूचना करना ताकि मैं देख सकूं कि–वह कैसा रूपवान है।

एक दिन सुगुण शिरोमणि मित्रों से घिरा हुआ सुजातकुमार उस मार्ग से जा रहा था। इतने में दासी के सूचित करने से मंत्री-पत्नी प्रियंगु अपनी सपत्नियों के साथ मिलकर उसे देखने लगी। तब कामदेव के रूप के प्रबल उफान को तोडने में पवन समान सुजात को देखकर मंत्रीपत्नी कहने लगी कि–जगत् में वही स्त्री भाग्यशाली है कि जिसका यह पति है। तदनंतर एक समय वह भभकेदार सुजातकुमार का वेष धारण कर अन्य सपत्नियों के बीच उक्त कुमार के वाक्य व चेष्टाएँ करके फिरने लगी।

इतने में मंत्री वहां आगया। वह घर का द्वार बन्द किया हुआ जानकर धीरे २ समीप आकर किवाड़ के छिद्रों में से देखने लगा। अपने अंतःपुर की चेष्टा देखकर वह विचार करने लगा कि बाहर बात प्रगट होगी तो पूर्णतः मान हानि होगी अतएव चिरकाल तक इस बात को गुप्त रखना चाहिये।

अब उक्त मंत्रीने एक झूठा पत्र लिखा उसमें लिखा कि "हे सुजात ! तू ने मुझे यह कहा था कि दस दिन के अन्दर मित्रप्रभ राजा को बांध लाऊंगा, परन्तु अभी तक क्यों विलम्ब करता है ? इत्यादिक विषय लिखकर वह पत्र राजा को बताया तो राजा भी विचार में पड़ा कि अरे ! ऐसा भला मनुष्य ऐसा काम कैसे कर सकता है ? अथवा लोभान्ध मनुष्यों को इस जगत में कुछ भी

अकर्त्तव्य नहीं. अतएव इस सुजात को मारना चाहिये, सो भी इस प्रकार कि-जिससे लोगों में भी अपवाद न हो। इससे राजाने अपने कार्य के वहाने से उसे पत्र के साथ अररपुरी नगरी के चन्द्रध्वज राजा के पास भेजा।

चन्द्रध्वज राजा ने हुक्म देखा। परन्तु सुजात का रूप देख कर वह चित्तमें विचार करने लगा कि ऐसे रूपवान पुरुष में ऐसा राज्यविरुद्ध कार्य घटित हो ही नहीं सकता. इसीलिये कहा है कि-

"हाथ, पग, दांत, नाक, मुख, ओष्ठ और कटाक्ष ये जिसके कुछ टेड़े या सीधे होवें तो वह मनुष्य स्वयं भी वैसा ही टेड़ा सीधा निकलता है। जो बिलकुल टेड़े होवें तो वह भी बिलकुल टेड़ा और सीधे होवें तो सीधा निकलता है।

अब चन्द्रध्वज ने अन्य सब को विदा किया व सुजात को (एकान्त में) सब बात कहकर राजा का पत्र बताया। तब सुजात बोला कि-हे नरवर! तुझे जिस प्रकार तेरे स्वामी की आज्ञा है वैसा ही कर। तब चन्द्रध्वज बोला कि तुझ पर प्रसन्न होकर मैं तुझे मारता नहीं, अतएव तू पुण्य व कीर्त्ति को क्षीण किये विना गुप्त रीति से यहां रह। यह कह कर उसने चन्द्रयशा नामक अपनी भगिनी जो कि त्वचा के दोष से कोढ़ रोग से दूषित हो रही थी। उसका बड़े हर्ष के साथ उससे विवाह कर दिया।

वह चन्द्रयशा सुजात की संगति से दुष्ट कुष्ठ रोग से पीड़ित होते हुए भी उत्तम संवेग से रंगित होकर श्रावक-धर्म में निश्चल हो गई। उसने अनशन ग्रहण किया और सुजात उसकी निर्यापना करने लगा। इस प्रकार वह मृत्यु पाकर सौधर्म-देवलोक में देदीप्यमान शरीर-धारी देवता हुई।

अवधिज्ञान से वह देव अपना पूर्वभव जानने पर वहां आ सुजात को नमन कर अपना परिचय दे कहने लगा कि–हे स्वामिन्! मैं आपका कौनसा इष्ट कार्य करूं, सो कहिये। तव सुजात (अपने मनमें) सोचने लगा कि–जो मैं मेरे माता पिता को एक वार देखूं तो पश्चात् प्रव्रज्या ग्रहण करूं। देव ने उसका यह विचार जानकर चंपापुरी पर निम्नाङ्कित संकट उत्पन्न करने लगा। नगर के ऊपर एक भारी शिला की रचना करी जिसे देखकर राजा आदि लोग बहुत भयभीत हुए, व हाथ में धूप के कड़छे धारण कर हाथ मस्तक पर रखकर कहने लगे हे देव हे देव ! हमने जो किसी का बुरा किया हो तो हमको क्षमा करो। तव वह देव डराने लगा कि–तुम दास हो गये हो अव कहां जा सकोगे। (पश्चात् कहने लगा कि) पापी मंत्री ने सुश्रावक पर अकार्य का आरोप लगाकर उसे दूषित किया है। इससे आज तुम समस्त अनार्यों को चूरचूर करूंगा। इसलिये उस श्रेष्ठ पुरुष को जो तुम खमाओ तो छूट जाओ तब लोग वोले कि–वह अभी कहां है? देव बोला इसी नगर के उद्यान में है। तव नगरवासियों के साथ राजा ने वहां जाकर उससे माफी मांगी और शीघ्र ही उसे विशाल हाथी पर चढ़ाया। लोग उसके मस्तक पर हिमालय समान धवल छत्र धारण करने लगे और सुरसरित (गंगा) की लहरों तथा महादेव सदृश श्वेत चामरों से उसे वींजने लगे। व सजल मेघ के समान गर्जते हुए वंदीजन उसका स्तवन करने लगे और सुजात तर्कित लोगों को उनकी धारणा से भी अधिक दान देने लगा। लोग कहने लगे कि धर्म के उदय से तेरा रूप हुआ है और तेरे उदय से धर्म वृद्धि को प्राप्त होता है। इस तरह इन दोनों वातों का परस्पर स्थिर सम्वंध है। (और लोग फिर कहने लगे कि) अहो! यह पुरुष सचमुच धन्य है कि देवता भी उसकी आज्ञा मानते हैं तथा ऐसे पुरुष जो धर्म

पालते हैं वह धर्म भी उत्तम होना चाहिये। इत्यादि जिनशासन की प्रभावना कराता हुआ वह अपने घर आकर मां बाप के चरण-कमल में निर्मल मन धर कर नमन करने लगा।

राजाने प्रथम धर्मघोष मंत्री को मारने का हुक्म दिया, तब सुजात ने मध्यमें पड़कर उसे छुड़ाया तो भी राजाने उसको निर्वासित किया। तदनन्तर सुजात ने अपना द्रव्य धर्म में व्यय कर राजा की आज्ञा ले अपने मां बाप के साथ दीक्षा ग्रहण की, तथा चरण शिक्षा व करण शिक्षा प्राप्त कर सुविज्ञ हुआ। ये तीनों व्यक्ति दुष्कर तपचरण करके निर्मल केवलज्ञान प्राप्त कर प्रतिज्ञा पूर्ण कर अचल सर्वोत्तम मोक्षपद को प्राप्त हुए।

इधर देशनिर्वासित धर्मघोष मंत्री भी राजगृह नगर में जाकर वैराग्य प्राप्त कर गुरु से दीक्षा ग्रहण कर साधु की प्रतिमा--विहार स्वीकार कर विचरने लगा। वह मुनि वारत्तपुर में अभयसेन राजा के वारत्त नामक मंत्री के घर में वहोरने गया वहां उनके घी शक्कर युक्त खीर वहोराते हुए उसमें से एक बूंद नीचे गिर गया इससे मुनि वह लिये बिना ही चलता हुआ। तब समुदाय में बैठा हुआ मंत्री विचार करने लगा कि मुनि ने भिक्षा क्यों नहीं ली? इतने में उस बूंद पर मक्षिकाएं बैठने लगी। उन मक्षिकाओं को छिप-

वहां धुंधमार नामक राजा था। उसकी अंगारवती नामक पुत्री थी। उससे विवाह करने के लिये प्रद्योतन राजाने मांग की, परन्तु धुन्धमार उसे नहीं देना चाहता था। जिससे प्रद्योतन राजा ने रुष्ट हो प्रबल बल से उस नगर को आ घेरा। तब अल्पबल अन्दर के धुन्धमार राजा ने भयभीत हो नैमित्तिक से पूछा। उस नैमित्तिक ने निमित्त देखने के लिये छोटे २ छोकरों को डराया तो वे भयातुर लड़के दौड़कर नाग मंदिर में खड़े हुए वारत्त मुनि को शरण में गये। तब सहसा मुनि बोल उठे कि-डरो मत। उस पर से नैमित्तिक ने राजा धुन्धमार को कहा कि तेरी अवश्य जय होगी।

पश्चात् मध्याह्न के समय विश्राम लेते हुए प्रद्योतन को धुन्धमार ने पकड़ लिया और उसे अपने नगर में लाकर अंगारवती से विवाह कर दिया। इसके अनन्तर प्रद्योतन ने शहर में फिरते हुए धुन्धमार का थोड़ा सा लश्कर देखकर अपनी स्त्री से पूछा कि-मैं किस तरह पकड़ लिया गया। उसने मुनि का वचन कह सुनाया। तब प्रद्योतन राजा उक्त मुनि के पास जाकर कहने लगा कि-हे नैमित्तिक तपस्वी ! आपको नमस्कार करता हूं। यह सुन मुनि ने प्रव्रज्या ग्रहण की थी उस समय से लेकर उपयोग देते हुए उन छोकरों को कहा हुआ वाक्य स्मरण किया, व उस वाक्य का आलोयण कर प्रतिक्रमण करके वारत्त मुनि मोक्ष को प्राप्त हुए. इस प्रकार प्रसंग में यह बात कही परन्तु यहां दृष्टान्त में तो सुजात के चरित्र ही की आवश्यकता है।

इस प्रकार पवित्र रूपशाली सुजात धर्म की अतिशय उन्नति का हेतु हुआ। अतएव मनोहर रूपवान जीव धर्मरत्न के योग्य होता है ऐसा जो कहा गया वह बराबर है।

इस भांति सुजात की कथा है।

रूपवानत्वरूप द्वितीय गुण कहा—

अब प्रकृति-सोमत्व रूप तृतीय गुण का वर्णन कहते हैं:—

पयई सोमसहावो, न पावकम्मे पवत्तए पायं ।
होइ सुहसेवणिज्जो, पसमनिमित्तं परेसिं पि ॥१०॥

अर्थ—प्रकृति से शांत स्वभाववाला प्रायः पापकर्म में प्रवर्त्तित नहीं होता और सुख से सेवन किया जा सकता है, साथ ही दूसरों को भी शांति दायक होता है। प्रकृति से याने अकृत्रिमपने से, जो सौम्य स्वभाव वाला याने जिसकी भीषण आकृति न होने से उसका विश्वास किया जा सके ऐसा होवे वह पुरुष पापकर्म याने मारकाट आदि अथवा हिंसा चोरी आदि दुष्ट कार्यों में प्रायः याने बहुत करके प्रवर्त्तित होता ही नहीं। प्रायः कहने का यह मतलब है कि निर्वाह हो ही न सकता हो तो बात पृथक् है परन्तु इसके सिवाय प्रवर्त्तित नहीं होता, और इसी से वह सुखसेवनीय याने बिना क्लेश के आराधन किया जा सके ऐसा तथा प्रशम का निमित्त याने उपशम का कारण भी होता है—इस जगह मूल में अपि शब्द आया है वह समुच्चय के लिये होने से 'प्रशम निमित्तं च' ऐसा अन्वय में जोड़ना (किसको प्रशम का निमित्त होता सो कहते हैं) पर को याने ऐसा वैसा न होवे उस दूसरे जन को—दृष्टान्त के रूप में विजयश्रेष्ठि के समान। उक्त विजयकुमार की कथा इस प्रकार है:-

यहां (भरतक्षेत्र में) विजयवर्द्धन नामक नगर में विशाल नामक एक सुप्रसिद्ध श्रेष्ठी था। उसके क्रोधरूपी योद्धा को विजय करने वाला विजय नामक पुत्र था। उक्त कुमार ने अपने शिक्षक के मुख से किसी समय यह वचन सुना कि- "आत्महित चाहने वाले मनुष्य ने क्षमावान होना चाहिये।" जिसके लिये कहा है

कि " सर्व सुखों का मूल क्षमा है, सर्व दुःखों का मूल क्रोध है सर्व गुणों का मूल विनय है और सर्व अनर्थों का मूल मान है।

" समस्त स्त्रियों में तीर्थंकर की माता उत्तम मानी जाती है समस्त मणियों में चिन्तामणि उत्तम मानी जाती है। समस्त लत. ओं में कल्पलता उत्तम मानी जाती है, वैसे ही समस्त धर्मों क्षमा ही एक उत्तम धर्म है। " यहां एकमात्र क्षमा का प्रतिपाद कर परीषह तथा कषायों को जीत कर अनन्तों जीव अनन्त सुख मय परमपद को प्राप्त हुए हैं।

कुमार तत्त्वबुद्धि से उक्त वचन को अमृत की वृष्टि समा मानने लगा और अनुक्रम से पढ़कर विद्वान हो मनोहर यौवना वस्था को प्राप्त हुआ। उसका उसके माता पिता ने वसन्तपुर सागर श्रेष्ठी की गोश्री नामक कन्या के साथ विवाह किया। उस पत्नी को वहीं छोड़कर (पितृगृह में) विजयकुमार अपने शह में आया।

अब किसी समय श्वसुर गृह से अपनी स्त्री को लेकर अपने गृह को ओर आ रहा था ज्योंहीं वह आधे मार्ग में पहुंचा था कि गोश्री को अपने पितृगृह में रहने की उत्कंठा होने से वह उसे कहने लगी– हे नाथ ! मुझे दुष्ट तृषा पिशाचिनी पीड़ित कर रही है। तब वह कुमार शीघ्र पीछे २ चलती उक्त स्त्री के साथ कुऐ के समीप आया ज्योंही कुमार कुए में से पानी निकालने लगा त्योंही उसको (कुए में) धक्का देकर गोश्री अपने पितृगृह को लौट आई और कहने लगी कि--अपशकुन होने के कारण वे मुझे नहीं ले गये।

कुए में पड़ा हुआ कुमार उसमें ऊगे हुए वृक्ष को पकड़कर बाहर निकला और सौम्य स्वभाव होने से विचार करने लगा कि उसने मुझे किस लिये कुए में गिराया होगा ? हां समझा, पियर जाने के

इरादे उसने ऐसा किया। इसलिये हे जीव! उस पर रोष मत कर क्योंकि उससे अपने शरीर ही का शोष होता है। सब कोई अपने पूर्वकृत कर्मों का फल विपाक पाते हैं। अतएव अपराध अथवा उपकार करने में सामने वाला व्यक्ति तो निमित्त रूप-मात्र है। जो तू दोषी पर क्षमा करे तभी तुझे क्षमा करने का अवकाश प्राप्त हो परन्तु जो वहां तू क्षमा नहीं करे तो फिर तुझे सदैव अक्षमा ही का व्यापार रहेगा—अर्थात् क्षमा करने का अवकाश ही नहीं मिलेगा।

(इस गाथा का दूसरी प्रकार से भी अर्थ हो सकता है, वह इस प्रकार है कि) जो तू दोष वाले पर क्षमा करे, तो तेरे पर भी क्षमा करने का प्रसंग आवेगा (याने कि, तू क्षमा करेगा तो दूसरे भी तेरे पर क्षमा करेंगे) परन्तु जो तू क्षमा न करे, तो फिर तेरे पर भी सदैव अक्षमा ही का व्यवहार होगा। (अर्थात् तुझ पर भी कोई क्षमा नहीं करेगा।)

यह सोच कर वह अपने घर चला आया व माता के पूछने पर कहने लगा कि— हे माता! अपशकुन होने के कारण से मैं उसे नहीं लाया। पश्चात् माता पिता उसे कई वार स्त्री को लिवा लाने के लिये कहते थे तो भी वह तैयार न होता था और विचार करता कि— उस बेचारी को कौन दुःखी करे? तथापि एक वक्त मित्रों के बहुत प्रेरणा करने से वह श्वसुर गृह गया, वहां कुछ दिन रह कर स्त्री को ले अपने घर आया। तदनन्तर माता पिता के चले जाने (मृत्यु हो जाने) के बाद वे घर के स्वामी हुए और परस्पर प्रेम से रहने लगे, उनके क्रमशः चार पुत्र हुए।

मूल प्रकृति से सौम्य-स्वभाव होने से ही प्रायः विजय बहुत पाप तोड़ सकता था और इसीसे परिजन, मित्र तथा स्वजन आदि

उसे सुख पूर्वक सेते थे। उसकी संगति के योग से बहुत से लोगों ने प्रशम गुण प्राप्त किया, कारण कि संगति ही से जीवों को गुण दोष प्राप्त होता है, इसीसे कहा है कि-सन्तप्त लोह के ऊपर यदि पानी रखें तो उसका नाम भी नहीं रहेगा। कमलिनी के पत्र पर वही जल-बिन्दु मोती के समान जान पड़ेगा। स्वाति नक्षत्र में बरसते समुद्र की सीप में पड़ कर वही जल-बिन्दु मोती होता है। इसलिये उत्तम मध्यम व अधम गुण प्रायः संगति ही से होते हैं।

क्षमा गुण को मुक्ति की प्राप्ति का प्रधान गुण मान कर शुभ-चित्त विजय जो किसी को कलह करता देखता तो यह वचन कहता। हे लोकों! तुम परम प्रमोद में मग्न होकर क्षमावान बनो और किसी भी प्रकार से क्रोध न करो कारण कि क्रोध भवसमुद्र का प्रवाह रूप ही है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थ के नाशक और सैकड़ों दुःखों के कारण भूत कलह को, जैसे राजहंस कलुषित जल का त्याग करते हैं, वैसे ही हे भव्यो! तुम भी त्याग करो। किसी के भी दोष प्रगट कर देने की अपेक्षा न कहना उत्तम है, और दूसरे चतुर मनुष्य ने भी उस विषय को पूछने की अपेक्षा न पूछना उत्तम है।

इस प्रकार प्रतिदिन उपदेश देते विजय श्रेष्ठि को उसका ज्येष्ठ पुत्र पूछने लगा कि- हे पिताजी! तुम सबको यही बात क्यों कहते हो? विजय बोला कि हे वत्स! मुझे यह बात अनुभव सिद्ध है. तब ज्येष्ठ पुत्र बोला कि वह किस प्रकार? तो विजय बोला कि- वह बात कहने से न कहना अच्छा। पुत्र के बहुत आग्रह करने पर श्रेष्ठि ने कहा कि- पूर्वकाल में तेरी मां ने मुझे विषम कुए में गिरा दिया था। यह बात मैं ने उसे भी फिर नहीं कही और उसीसे सब अच्छा ही हुआ है. इसलिये तूने भी यह

बात किसी से न कहना चाहिये। उस कमबुद्धि पुत्र ने किसी समय हँसते हँसते पूछा कि—हे माता! क्या तुमने हमारे पिता को कुए में डाला था, यह बात सत्य है? वह पूछने लगी कि, यह तुझे कैसे जान पड़ा? तब वह बोला कि पिता ने बात कही थी उससे यह सुन कर वह इतनी लज्जित हुई कि हृदय फट जाने से वह मृत्यु को प्राप्त हो गई।

यह बात जान कर विजय ने अपने को अल्पाशय मान निन्दा करता हुआ शोकातुर हो स्त्री का अग्निसंस्कारादि मृत कार्य किया। तदनंतर उसका मन संवेग से रंगित हो जाने से अवसर पाकर विमलसूरि के पास शीघ्र (उसने) तुरन्त निरवद्य प्रव्रज्या अंगीकार की।

बहुत वर्षों तक साधुत्व पालन कर शान्त स्वभाव होने से स्वस्थ शरीर को त्याग कर देवता हुआ और अनुक्रम से सिद्धि पावेगा। इस प्रकार सौम्यभाव जनक उदार और उत्कृष्ट विजय श्रेष्ठी का वचन सुनकर गुणशाली भव्य जनों! तुम जन्म का उच्छेद करने के हेतु प्रकृति सौम्यता नाम तृतीय गुण धारण करो।

प्रकृति सौम्यरूप तृतीय गुण बताया, अब लोकप्रियता रूप चतुर्थ गुण कहते हैं।

इहपरलोयविरुद्धं, न सेवए दाणविणयसीलड्ढो।
लोयप्पिओ जणाणं, जणेइ धम्मंमि बहुमाणं ॥११॥

अर्थ—जो मनुष्य दाता विनयवन्त और सुशील होकर इसलोक व परलोक से जो विरुद्ध कर्म होवें उनको नहीं करता वह लोक प्रिय होकर लोगों को धर्म में बहुमान उत्पन्न करे। इसीलिये कहा है कि—(लोक विरुद्ध कार्य इस प्रकार हैं:--

सब किसी की निंदा करना और उसमें भी विशेष करके गुणवान पुरुषों की निन्दा करना, भोले भाव से धर्म करने वाले पर हँसना, जन पूजनीय पुरुषों का अपमान करना। बहुजनों से जो विरुद्ध हो उसकी संगति रखना, देश कुल जाति आदि के जो आचार होवें उनका उल्लंघन करना, उद्भट वेष या भपका रखना दूसरे देखें उस तरह (नाद पर चढ़कर) दान आदि करना। भले मनुष्य को कष्ट पड़ने पर प्रसन्न होना, अपनी शक्ति होते हुए भले मनुष्य पर पड़ते हुए कष्ट को न रोकना, इत्यादिक कार्य लोक विरुद्ध जानना चाहिये। परलोक विरुद्ध कार्य वे खरकर्म याने जिन कार्यों के करने में सख्ती का व्यवहार करना पड़े वे। वे इस प्रकार हैं:—

बहुत प्रकार के खरकर्म जैसे कि जल्लाद का काम, जकात (कर) वसूल करने वाले का काम इत्यादि, ऐसे काम सुकृति पुरुष ने विरति न ली हो तो भी न करना चाहिये।

उभय लोक विरुद्ध कार्य वे जुगार (जुआ) आदि सात व्यसन ये हैं:—जूआ, मांस, मद्य, वेश्या, हिंसा, चोरी और परस्त्रीगमन ये सात व्यसन इस जगत में अत्यन्त पापी पुरुषों में सदा रहा करते हैं।

व्यसनी मनुष्य यहां भी सुजनों में निंदित है और मरने पर व नीच मनुष्य निश्चय दुर्गति को पहुंचता है। सारांश यह है कि—ये काम करने से लोगों की अप्रीति होती है, इसलिये उनका परिहार करने ही से सुजनों को प्रिय होता है और धर्म करने का भी वही अधिकारी माना जाता है, तथा दान याने सखावत, विनय याने योग्य सत्कार, तथा शील याने सदाचार में तत्पर रहना, इन गुणों से जो आढ्य याने परिपूर्ण हो वह लोकप्रिय

होता है. इसीलिये कहा है कि —

सखावत से प्रत्येक प्राणी वश में होता है, सखावत से वैर भूले जाते हैं, सखावत ही से अहित मनुष्य बंधुतुल्य हो जाता है, इसलिये सदैव सखावत करते रहना चाहिये। मनुष्य विनय से लोकप्रिय होता है, चंदन उसकी सुगंधि से लोकप्रिय होता है, चन्द्र उसकी शीतलता से लोकप्रिय होता है और अमृत उसके मिठास से लोकप्रिय होता है। निर्मल शीलवान पुरुष इस लोक में कीर्त्ति और यश प्राप्त करता है और सर्व लोगों को वल्लभ हो होता है, तथा परलोक में उत्तम गति पाता है। ऐसा लोकप्रिय पुरुष धर्म प्राप्त करे तो उससे जो फल होता है वह कहते हैं:—

ऐसा लोकप्रिय पुरुष जनों को याने सम्यग्दृष्टि जनों को भी धर्म में याने कि वास्तविक मुक्तिमार्ग में, बहुमान याने आंतरंगिक प्रीति उपजाता है अथवा धर्म प्राप्ति के हेतु रूप बोधिबीज को उत्पन्न करता है, विनयंधर समान इसी से कहा है कि —धर्म का प्रशंसा तथा बीजाधान का कारण होने से लोकप्रियता सद्धर्म की सिद्धि करने को समर्थ है यह बात यथार्थ है।

विनयंधर की कथा इस प्रकार है.

यहां सुवर्णरुचिरा चंपक-लता के समान चंपा नामक विशाल नगरी थी; उसमें न्यायधर्म की बुद्धिवाला धर्मबुद्धि नामक राजा था। उस राजा को रूप से देवांगनाओं को भी जीतने वाली विनयवती नामक रानी थी और वहां इभ्य नामक श्रेष्ठी था और उसकी पूर्णयशा नामक भार्या थी। सदैव गुरुजन को पांव पड़ने वाला, अपने शरीर की कान्ति से सुवर्ण को भी जीतने वाला और बहुत विनयवान, विनयंधर नामक उस श्रेष्ठि का पुत्र था। वह कुमार सर्व कलाओं में कुशल हो, चन्द्रमा के समान सर्व

जनों को इष्ट होकर अनुपम सौंदर्य के रंग से रंगी हुई यौवनावस्था को प्राप्त हुआ। (तब) सुख पूर्वक सर्वकलाएं सीखी हुई, लावण्य गुण से देवांगनाओं को हँसने वाली, श्रावक कुल में जन्मी हुई गृहस्थ धर्म को पालती तारा, श्री, विनया और देवी नामक चार निर्मल शीलयुक्त महान् श्रेष्ठियों की कन्याओं से उसने एक ही साथ पाणिग्रहण किया।

वह व्यवहार शुद्धि से तथा प्रायः पाप कर्मों से दूर रह कर सुखसागर में निमग्न हो प्रसन्नचित्त से समय व्यतीत करता था। इस न्याय पूर्ण और सदा सुखी नगर में सबसे अधिक सुखी कौन है? इस प्रकार एक दिन राज सभा में बात निकली। तब एक व्यक्ति बोला कि समस्त सुभग जनों में शिरोमणि समान इभ्य श्रेष्ठि का पुत्र विनयंधर यहां अतिशय सुखी है। कारण कि- जिसके पास कुबेर के समान धन है, इन्द्र तुल्य लोकप्रिय जिसका रूप है, जीव के समान निर्मल जिसकी बुद्धि है और विशाल हस्ती जैसे नित्य दान (मदजल) झरता है वैसा नित्य जिसका दान हुआ करता है। जिसकी चारों प्रियाएं अत्यन्त सुन्दर रूपमयी है कि जिनको देखकर देवांगनाएं चुपचाप कहीं छिपजाने से मैं मानता हूं कि दृष्टि गोचर भी नहीं होती। इत्यादिक अनेक प्रकार का उसका अनुपम वर्णन सुन कर कामबाण के जोर से पीड़ित हुआ राजा उनकी ओर रागान्ध हो गया। ये त्रिभुवन मनहरणी स्त्रियां मुझे किस प्रकार प्राप्त हों? इस प्रकार चिन्तातुर - चित्त उक्त राजा को यह विचार सूझा कि- उस वणिक पर आरोप रख नगरवासियों को विश्वास कराकर, पश्चात् जुल्म कर उसकी वे स्त्रियां ले लूं तो मैं निन्दापात्र न बनूं। यह निश्चय कर एकान्त में अपने विश्वासपात्र सेवक को बुलाकर राजा ने उसे कहा कि तूं कपट स्नेह बता कर विनयंधर के साथ मित्रता कर। पश्चात

उसके हाथ से भोजपत्र पर निम्नाङ्कित गाथा लिखा कर शीघ्र उसे ज्ञात न हो उस तरह चुपचाप वह मेरे पास ले आ। वह गाथा यह है:—

"हे विकस्वर नेत्रवाली और रतिक्रीड़ा कुशल, तेरे असह्य विरह से पीड़ित हुए मुझ अभागे को आज की यह रात्रि हजारों रात्रि समान हो गई है"। उक्त चाकर के ऐसा ही करने के अनन्तर राजाने वह भोज पत्र नगरवासियों के सन्मुख रखा और कहा कि यह पत्र विनयंधर ने रानी को गंधपुट में भेजा है। हे नागरिकों! लिपि की परीक्षा करके ठीक ठीक बात मुझे कहो, फिर यह मत कहना कि राजा ने अनुचित किया है। तब नगर के श्रेष्ठ-जन विचार करने लगे कि जो भी दूध में पूरे (सूक्ष्म-जंतु) न हों तो भी राजा की आज्ञा के आधीन होना चाहिये यह कह अपने हाथ में उक्त लेख ले लिपि परीक्षा करने लगे। तो लिपि तो ठीक ठीक मिल ही गई जिससे नगरजन विषाद सहित बोले कि यद्यपि लिपि मिलती है तथापि ऐसे मनुष्य से ऐसा काम होना घटता नहीं। कारण कि जो हाथी शल्लकी के वृक्षों से भरे हुए सुन्दर वन में फिरता है वह कटीले केरों में किस प्रकार रमण करे? जो राजहंस सदैव मानस सरोवर के अत्यन्त निर्मल पानी में क्रीड़ा किया करता है वह ग्रामनद में किस प्रकार विचरे? उस परिपूर्ण पुण्यशाली पास जो क्षण भर भी जा बैठता है वह बांस के संग से जैसे सर्प विष को छोड़े वैसे पाप को छोड़ देता है। इसलिये अब आप श्रीमान् ही ने मध्यस्थ होकर वास्तविक बात सोचना चाहिये कि यह अघटित बनाव किसी नीच मनुष्य का बनाया हुआ है। जैसे कि स्फटिक मणि स्वयं श्वेत होते हुए भी उपाधि वश अन्य रंग धारण करती है वैसे ही

यह विनयंधर स्वतः अखंडित शीलवन्त है तथापि किसी दुर्जन की संगति से यह उसकी भूल हुई जान पड़ती है।

इस प्रकार नगरजनों के बोलते हुए भी जैसे मदमत्त हस्ती महावत को न गिने वैसे ही मर्यादा रूप खूंटा तोड़ कर राजा अन्याय करने की ओर तत्पर हो गया और अपने सुभटों को बुलाकर कहने लगा कि–तुम जबरदस्ती उसकी स्त्रियों को पकड़ लाओ तथा उसके नौकर-चाकरों को बाहर निकाल कर उसके घर व दूकान को सील लगादो।

(पश्चात् नगर के लोगों को राजा कहने लगा कि) तुम नगर जन दोषी के पक्षपाती होते हो, परन्तु उसको मेरे सन्मुख निर्दोष ठहरावो तो मैं उसे तुरन्त छोड़ दूँ।

इस प्रकार कृपण मनुष्य जैसे याचकों को तिरस्कृत करता है वैसे ही राजा के अतिशय कर्कश वाणी से ताड़ित करने से नागरिक लोग अपने २ घर को भाग गये। पश्चात् विनयंधर की उन पवित्र कार्य-रत भार्याओं को सुभटों से पकड़ मंगवा कर राजा ने अपने अन्तःपुर में कैद कर लीं। उनका सुन्दर रूप देखकर राजा सोचने लगा कि–मेरे अहो भाग्य ! कि जिनको मैंने सुनी थीं, वैसी उनको देखी हैं और वे ही मेरे घर में प्राप्त हुई हैं। पश्चात् राजा ने अत्यन्त मीठे वचनों द्वारा उनसे विषय प्रार्थना की तब लज्जा से नतमस्तक हुई उन महा सतियों ने उसको इस प्रकार कहा कि—

हाय ! हाय ! अफसोस की बात है कि मूढ़ चित्त मनुष्य परस्त्री के रमणीय रूप की ओर देखते हैं, परन्तु स्वयं संसार रूप कुए में पड़ते हैं उस ओर जरा भी नहीं देखते। परस्त्री के यौवन पर दृष्टि डालने वाले लोगों को पुष्पबाण धारण करने वाला और

अंगहीन कंदर्प भी जीतता रहता है तो फिर वे शूरवीर गिने जाकर नरसिंह कैसे कहलावें ? परस्त्री की इच्छा करते हुए सदाचार रूप जीवन से हीन महा-मलिन--जन महा पापियों के समान अपना मुख किस प्रकार बता सकते होंगे ? यहां आत्म विनाश करके, कुल को कलंकित कर व अपकीर्ति पाकर प्रज्वलित संसार के अति दुस्सह अग्नि ताप में तप्त हो जीव भटका करते हैं । इस प्रकार शील-भ्रष्ट नीच पुरुषों के अनेक दोष सुनकर हे कुलीन जनों ! तुम शील रूप रत्न को मन से भी मैला मत करो ।

यह सुनकर राजा ने विलक्ष होकर वह संपूर्ण दिन व रात्रि जैसे तैसे व्यतीत की तथा प्रातःकाल में पुनः उनके पास आया । इतने में वे सर्व स्त्रियाँ उसको अग्नि-ज्वाला समान पीले केश वाली अतिशय विभत्स व जीर्ण वस्त्र और मलीन शरीर वाली दिखने लगीं ।

वे स्त्रियाँ यौवन-हीन हुई और रागी-जन को वैराग्य उत्पन्न करने में समर्थ हुई ऐसी उसे दिखीं, जिससे उदास हो वैराग्य पा राजा विचार करने लगा । क्या ये नजरबन्द हैं कि मेरा मति विभ्रम है, कि स्वप्न है, कि कोई दिव्य प्रयोग है अथवा कि मेरे पाप का प्रभाव है ?

हाय हाय ! मैंने कम बुद्धि हो सदा विमल अपने कुल को कलंकित किया और जगत में तमाल पत्र के समान श्यामल अपयश फैलाया । इत्यादिक नाना प्रकार से पश्चाताप कर राजा ने उन्हें विनयंधर के पास भेज दीं, वहां आते ही वे तत्काल यथावत् रूपवान हो गई ।

इतने ही में उस नगर में श्री शूरसेन नामक महान् आचार्य पधारे, उनको नमन करने के लिए उनके पास राजा, विनयंधर

तथा नागरिक लोग आये। आकर तीन प्रदक्षिणा दे अपूर्व भाव से गुरु को नमन करके सब यथायोग्य स्थान पर बैठ गए व गुरु ने निम्नानुसार धर्म कथा कही।

राग, द्वेष और मोह को जीतने वाले जिनेश्वरों ने दो प्रकार का धर्म बताया है। एक सुसाधु का धर्म और दूसरा गृहस्थी-धर्म याने श्रावक धर्म। यह दोनों प्रकार का धर्म मुक्तिपुरी को ले जाने वाला है। वहां जो प्राणी सावद्य कार्य त्यागने के लिए उद्यत हो, सरल रहे, पांच महाव्रत रूप पर्वत का भार उठाने के लिए तैयार हो। पंच समिति और तीन गुप्ति से पवित्र रहे, ममत्व से रहित हो, शत्रु और मित्र में समचित्त रखने वाला हो, क्षांत--दान्त--शांत हो, तत्त्व का ज्ञाता हो और महा सत्त्ववान हो। निर्मल गुणों से युक्त और गुरु सेवा में भक्तिवान हो, ऐसा जो प्राणी हो वह प्रथम धर्म याने साधु धर्म को पालन कर सुमार्ग में लगा हुआ अल्प काल ही में मुक्तिपुरी को पहुँचता है। जो साधु धर्म न कर सके उन्होंने श्रावक धर्म पालना चाहिये, कारण कि वह भी कुछ समय में मुक्ति सुख देने में समर्थ है ऐसा शास्त्र में कहा है।

इस प्रकार धर्म कथा सुनकर अवसर पा राजा ने गुरु को पूछा कि–हे भगवन्! विनयंधर ने पूर्व-भव में कौन-सा महान् सुकृत किया है? जिससे कि यह स्वयं सर्व लोगों को प्रिय हुआ है, साथ ही इसकी स्त्रियाँ अतिशय रूपवती हैं. (तथा हे भगवन! यह बात भी कहो कि) मैंने उन्हें कैद कीं उस समय वे विरूप कैसे हो गई?

तब गुरु कहने लगे कि–हस्तिशीर्ष नामक नगर में अपने उज्ज्वल यश से दिगंत को उज्ज्वल करने वाला विचारधवल नामक राजा था। उस राजा का चर नामक वैतालिक था। वह

अतिशय करुणा आदि गुणों से युक्त परोपकारी और पाप परिहारी था। वह अति उदार होने से प्रतिदिन मनोज्ञ भोजन किसी भी योग्य पात्र को देकर के उसके अनन्तर ही स्वयं भोजन करता था। वह एक दिन विन्दु नामक उद्यान में कायोत्सर्ग की प्रतिमा धर कर खड़े हुए मानों मूर्तिमय उपशम रस ही हो ऐसे सुविधिनाथ को देख संतुष्ट हो निम्नानुसार उनकी स्तुति करने लगाः—

कैसा तेरा अंग विन्यास है, कैसी तेरी लोचन में लावण्यता है, कैसा तेरा विशाल भाल है, कैसी तेरे मुख-कमल की प्रसन्नता है? अहो! तेरी भुजाएँ कैसी सरल हैं। अहो! तेरे श्रीवत्स की कैसी सुन्दरता है। अहो! तेरे चरण कैसे भव-हरण हैं। अहो! तेरे सर्व अंग कैसे मनहर हैं। वार-वार इन प्रभु को देखकर हे लोगों! तुम तुम्हारे रंक नेत्रों को तृप्त करो, जिससे त्रिभुवन तिलक देवाधिदेव जल्दी जल्दी परमपद दे।

इस प्रकार शुद्ध श्रद्धावान् हो परिपूर्ण भक्ति-राग से जिनेश्वर की स्तुति कर उनकी ओर बहुमान धारण करता हुआ वह चर वैतालिक अपने घर आया। अब उसके पुण्यानुबंधि पुण्य के उदय से भोजन के समय उसके घर श्री सुविधिनाथ जिनेश्वर भिक्षार्थ पधारे। उनको भली-भांति देखकर वैतालिक ने पूर्ण आनन्द से रोमांचित होकर उत्तम आहार वहोराया।

साथ ही सोचने लगा कि मैं आज धन्य-कृतार्थ हुआ हूँ और आज मेरा जीवन सफल हुआ है जिससे कि भगवान् स्व-हस्त से मेरा यह दान ग्रहण करते हैं।

इतने ही में आकाश में विकसित मुख वाले देवताओं ने "अहो सुदानं – अहो सुदानं" ऐसा उद्घोष किया व देव-दुन्दुभि बजाई तथा लोगों के चित्त को चमत्कार कारक गंधोदक

तथा पुष्प की वृष्टि हुई और उसके गृहांगन में महान वसुधारा (धन वृष्टि) हुई।

तथा उक्त वैतालिक की स्तुति करने के लिए नरेन्द्र, देवेन्द्र तथा असुरेंद्र आये व उसे शुभ परिणाम से सम्यक्त्व प्राप्ति हुई।

पश्चात् वह अपने धन को सुपात्र में खर्च कर मन में जिनेश्वर का स्मरण करता हुआ इस अशुचि मय शरीर को त्याग कर प्रथम देवलोक में गया। वहां से च्युत होकर यह लोकप्रिय विनयंधर हुआ है और दान के पुण्य के प्रभाव से उसे ये चार स्त्रियाँ मिली हैं। उन स्त्रियों के पवित्र शील से रंजित होकर शासन देवता ने उस समय तुझे वैराग्य उत्पन्न करने के लिये उनको विरूप कर दी थीं।

यह सुन धर्मबुद्धि राजा उत्कृष्ट चारित्र धर्म पालन करने की बुद्धि वाला होकर राज्य की व्यवस्था कर स्वस्थ मन से दीक्षा लेने लगा। विनयंधर ने भी बहुत लोगों को धर्म में बहुमान उपजाते हुए चारों स्त्रियों के साथ बड़ी धूमधाम से दीक्षा ग्रहण की। नगर जन भी अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार धर्म स्वीकार करके स्वस्थान को गये और आचार्य भी सपरिवार सुख समाधि से अन्य स्थल में विचरने लगे।

पश्चात् धर्मबुद्धि और विनयंधर मुनि अकलंक चारित्र पालन कर सकल कर्मों का क्षय कर मुक्तिसुख को प्राप्त हुए। इस प्रकार बहुत से जीवों को बोधिबीज उपजाने वाले विनयंधर का यह चरित्र सुनकर हे विवेकशाली भव्य जनों! तुम लोकप्रियता रूप-गुण को धारण करो।

❀ इस प्रकार विनयंधर की कथा समाप्त हुई ❀

इस प्रकार लोकप्रियता रूप चतुर्थ गुण का वर्णन किया।

अब अक्रूरता रूप पंचम गुण की व्याख्या करने की इच्छा करते हुए कहते हैं:—

कूरो किलिट्ठभावो, सम्मं धम्मं न साहिउं तरइ।
इय सो न इत्थ जोगो, जोगो पुण होइ अक्कूरो ॥१२॥

अर्थ—क्रूर याने क्लिष्ट परिणामी होवे वह धर्म का सम्यक् प्रकार से साधन करने को समर्थ नहीं हो सकता—इससे वैसे पुरुष को इस जगह अयोग्य जानना चाहिये परन्तु जो अक्रूर हो उसी को योग्य जानना चाहिये।

क्रूर याने क्लिष्ट परिणामी अर्थात् मत्सरादिक से दूषित परिणाम वाला जो होवे वह सम्यक् रीति से याने निष्कलंकता से (अथवा सम्यक् निष्कलंक) धर्म का साधन करने याने आराधन करने में समर्थ नहीं हो सकता, समरविजयकुमार के समान।

इस हेतु से ऐसा पुरुष यहां अर्थात् इस शुद्ध धर्म के स्थान में योग्य याने उचित माना ही नहीं जाता, अतएव जो अक्रूर हो उसको योग्य जानना—(मूल में 'पुण' शब्द है वह एवकारार्थ है) कीर्तिचंद्र राजा के समान।

कीर्तिचन्द्र नृप तथा समरविजयकुमार की कथा इस प्रकार है।

जैसे आरामभूमि बहुशाखा—बहुतसी शाखायुक्त वृक्षों से सम्पन्न, पुन्नाग शोभित और विशाल शालवृक्षों से विराजमान होती है वैसी ही बहु साहारा—बहुत से साहूकारों से युक्त, पुन्नाग याने उत्तम पुरुषों से विराजमान और विशाल शाल—किले से शोभित चंपा नामक नगरी थी। वहां सुजन रूप कुमुदों के वन

को आनन्द देने को चन्द्र समान कीर्तिचन्द्र नामक राजा था। उसका छोटा भाई समरविजय नामक युवराज था।

अब राग के बल को नष्ट करने वाले, रजस्-पाप को शमन करने वाले, मलिन-मैले अम्बर-वस्त्र धारण करने वाले, सदय-दयावान्, अंगीकृत भद्रपद-भद्रता धारी सुमुनि-सुसाधु के समान हतराज प्रसर-राजयात्रा रोकने वाला, शमित रजस्-धूल को दबाने वाला, मलिनांबर-बादलयुक्त आकाश वाला, सदक-पानी सहित, अंगीकृत भद्रपद-भाद्रपद मास वाला वर्षा काल आया।

उस समय प्रासाद पर स्थित राजा ने भरपूर पानी के कारण जोश से बहती हुई नदी देखी। तब कुतूहल-वश मन आकर्षित होने से अपने छोटे भाई के साथ राजा उक्त नदी में फिरने के लिये एक नाव में चढ़ा और दूसरे लोग दूसरी नावों में चढ़े। वे ज्योंही नदी में क्रीड़ा करने लगे त्योंही उक्त नदी के ऊपर के भाग में बरसे हुए बरसात से एकदम तीव्रवेग का प्रवाह आ गया। जिससे खींचते हुए भी नावें भिन्न२ दिशाओं में बिखर गई, क्योंकि प्रवाह के वेग में नाविकों का कुछ भी वश नहीं चल सकता था।

तब नदी के अन्दर के तथा किनारे पर खड़े हुए पुरजनों के पुकार करते प्रचंड वायु के झपाटे से राजा वाली नाव दृष्टि से बाहर निकल गई। वह दीर्घतमाल नामके वन में किसी वृक्ष से लग कर ठहरी। तब कुछ परिवार व छोटे भाई के साथ राजा उसमें से नीचे उतरा। वहां थक जाने से ज्योंही राजा किनारे पर विश्राम लेने लगा त्योंही नदी के प्रवाह से खुदी हुई दरार के गड्ढे में प्रकटतः पड़ा हुआ उत्तम मणि-रत्नों का निधान उसने देखा।

राजा ने उसे ठीक तरह से देखकर अपने भाई समरविजय को बताया। वह देदीप्यमान रत्न-राशि देखकर समरविजय का

मन चलायमान हो गया। वह स्वभाव ही से क्रूर होने से विचारने लगा कि राजा को मार कर यह सुख कारक राज्य तथा यह अक्षय खजाना ले लूं। यह विचार कर उसने राजा पर घात (वार) किया, जिसे देखकर शेष नागरिक-जन चिल्लाने लगे कि हाय-हाय! यह क्या अनर्थ हुआ। तथापि राजा ने उक्त घात बचा लिया।

राजा अक्रूर मन वाला होने से अपनी भुजाओं से उसे पकड़ कर कहने लगा कि हे भाई! तूने यह कुल के अनुचित प्रतिकूल कार्य कैसे किया? हे समर! जो तुझे यह राज्य अथवा यह निधान चाहिए तो प्रसन्नता से ग्रहण कर और मैं व्रत ग्रहण करता हूँ। यह सुन कर क्रोध के फल से अज्ञात और विवेक-हीन समरविजय उस नाव को छोड़कर राजा से अलग हो गया।

जिसके कारण भाई-भाई भी अकारण इस प्रकार शत्रु हो जाते हैं, ऐसे इस निधान का मुझे काम ही नहीं। यह सोचकर उसे त्याग राजा अपने नगर को आया।

इधर समरविजय भ्रमरों की पंक्ति समान पाप के वश से सन्मुख पड़े हुए उक्त रत्न निधान को भी न देखकर मन में सोचने लगा कि निश्चय उसे राजा ले गया है। पश्चात् वह लुटेरा होकर अपने भाई के देश को लूटने लगा, किसी समय सामन्त-सरदारों ने उसे पकड़ कर राजा के सन्मुख उपस्थित किया। तब राजा ने उसे क्षमा कर दिया व राज्य देने को कहते हुए भी समर सोचने लगा कि मेरा भाई प्रसन्नता से राज्य देता है वह न लेकर अपने बल से राज्य लेना चाहिये।

इस प्रकार कभी राजा के शरीर पर आक्रमण करता, कभी खजाना लूटता, कभी देश को लूटता था और पकड़ाते हुए भी

राजा उसे वारंवार क्षमा कर राज्य ग्रहण करने के लिये आग्रह करता था।

तब लोगों में चर्चा चली कि, अहो! भाई--भाई में अन्तर देखो कि एक तो असदृश दुर्जन है व दूसरे में निरुपम सौजन्यता है।

अब राजा महान वैराग्यवान हो, उदासीनता से दिन व्यतीत करता था। इतने में वहां प्रबोध नामक प्रवर ज्ञानी का आगमन हुआ। उनको नमन करने के लिये आनन्दित हो राजा सपरिवार वहां आया और वहां धर्म सुनकर अवसर पाकर अपने भाई का चरित्र पूछने लगा।

गुरु बोले कि—महाविदेह क्षेत्रान्तर्गत मंगलमय मंगलावती विजय में सौगंधिकपुर में मदन श्रेष्ठि के सागर और कुरंग नामक दो पुत्र थे। उन दोनों भाइयों ने अपनी बाल्योचित क्रीड़ा करते हुए एक समय दो बालक तथा एक मनोहर बालिका देखी। तब उन्होंने उनको पूछा कि तुम कौन हो? उनमें से एक बोला कि:-इस जगत में सुप्रसिद्ध मोह नामक राजा है। उक्त मोह राजा का दुश्मन रूपी हाथी के बच्चे को भगाने में केशरी सिंह समान राग केशरी नामक पुत्र है और उसका मैं सागर समान गम्भीर आशय वाला लोभसागर नामक पुत्र हूँ और यह परिग्रहाभिलाष नामक मेरा ही विनयवान पुत्र है तथा यह बालिका मेरे भाई क्रोधवैश्वानर की क्रूरता नामक पुत्री है।

यह सुनकर वे प्रसन्न हो परस्पर खेलने लगे और सागर नामक श्रेष्ठि पुत्र क्रूरता के अतिरिक्त शेष दो बालकों के साथ मित्रता करने लगा। कुरंग नामक श्रेष्ठी पुत्र उन बालकों के साथ तथा विशेष करके क्रूरता के साथ मित्रता करने लगा। क्रमशः

वे दोनों श्रेष्ठी पुत्र बालवय व्यतीत करके मनोहर यौवनावस्था को प्राप्त हुए।

अब वे मित्रों की प्रेरणा से द्रव्योपार्जन करने के हेतु, मां बाप की मनाई होते हुए भी बेचने का माल साथ में लेकर देशान्तर को रवाना हुए। मार्ग में उनके अन्तराय कर्म के उदय से उनका बहुतसा धन भीलों ने लूट लिया, उससे जो कुछ बचा उसे लेकर वे धवलपुर नगर में आए।

उस द्रव्य से वे वहां दूकान लगा कर व्यापार करने लगे। इसमें उन्होंने सहस्रों दुःख सहकर दो हजार स्वर्ण मुद्राएं कमाई। जिससे उनकी तृष्णा बहुत बढ़ गई, उससे वे कपासिये तथा तिल की वखारें भरने लगे, कृषि करने लगे और ईख के बाड़ कराने लगे व त्रस जीवों से मिश्रित तिलों को घाणी में पीलाणे लगे, गुलिका आदि का व्यापार करने लगे।

इस प्रकार करते हुए उनके पास पाँच सहस्र स्वर्ण मुद्राएँ हो गई। तब उनको दश सहस्र की व क्रमशः लक्ष स्वर्ण मुद्राओं की इच्छा हुई, उतनी प्राप्त हो जाने पर लोभसागर नामक मित्र के प्रताप से करोड़ मुद्राएं पूरी करने की इच्छा हुई।

तब भिन्न २ देशों में गाड़ियों की श्रेणियां भेजने लगे, समुद्र में जहाज चलाने लगे तथा ऊँटों की कतारें फिराने लगे व राज दरबार से भांति-भांति के इजारे पट्टे से रखने लगे तथा कुट्टन-खाने (गणिका गृह) रखकर भी धनोपार्जन करने लगे एवं घोड़ों की शर्तों के अखाड़े चलाने लगे। इत्यादिक करोड़ों पाप कर्मों द्वारा यावत् उनको करोड़ सुवर्ण मुद्राएं भी मिल गई, तथापि लोभसागर नामक पाप मित्र के वश उनको करोड़ रत्न प्राप्त करने की इच्छा हुई।

इससे वे सम्पूर्ण धन माल जहाज में भरकर रत्नद्वीप की ओर रवाना हुए, इतने में कुरंग के कान में क्रूरता खूब लग कर कहने लगी कि–तेरे इस भागीदार भाई को मारकर ये सम्पूर्ण द्रव्य तूं अपने स्वाधीन कर क्योंकि इस जगत् में सब जगह धनवान् ही सुजन माने जाते हैं। इस प्रकार वह नित्य उसे उत्तेजित करती, और उसके चित्त में भी यही बात बैठती गई, इससे उसने समय पाकर अपने भाई सागर को धक्का देकर समुद्र में डाल दिया। सागर अशुभ ध्यान में रह दरिया (समुद्र) के पानी से पीड़ित होकर मृत्यु वश हो तीसरी नरक में नारकी हुआ।

इधर कुरंग अपने भाई का मृत कार्य कर हृदय में प्रसन्न होता हुआ ज्योंही थोड़ी दूर गया होगा त्योंही जहाज झट से फूट गया। जहाज के सब लोग डूब गये व सर्व माल गल गया तो भी कुरंग को एक पटिया मिल जाने से वह जैसे तैसे चौथे दिन समुद्र के किनारे आ पहुँचा। (इतने दुःखी होते भी) वह विचारने लगा कि अभी भी धनोपार्जन करके भोग भोगूंगा। ऐसा खूब सोच कर वन में भटकने लगा। इतने में एक सिंह ने उसको मार डाला और वह धूमप्रभा नामक नरक में पहुँचा।

पश्चात् वे दोनों संसार भ्रमण करके जैसे तैसे अंजन नामक पर्वत में सिंह हुए, वे एक गुफा के लिये युद्ध करके मृत्यु को प्राप्त हो चौथे नरक में गये। तदनन्तर सर्प हुए वहां एक निधान के लिये महायुद्ध करते हुए शुभध्यान के अभाव से धूमप्रभा नामक नारक पृथ्वी में गये।

तत्पश्चात् बहुत से भव भ्रमण कर एक वणिक की स्त्रियों के रूप में हुए। वहां वे पति के मरने के बाद द्रव्य के लिये

लड़लड़ कर छट्ठे नरक में गए। पुनः कितने ही भव भ्रमण करके फिर एक राजा के पुत्र हुए। वे बाप की मृत्यु के अनन्तर राज्य के लिये कलह करते हुए मर कर तमतमा नामक सातवीं नरक में गए।

इस प्रकार द्रव्य के हेतु उन्होंने अनेक प्रकार की यातनाएं सहन कीं, तथापि न तो उसे किसी को दान ही में दिया और न स्वयं ही भोग सके। पश्चात् हे राजन्! किसी भव में उनके कुछ ऐसे ही अज्ञान तप करने से सागर का जीव तू राजा हुआ है और कुरंग का जीव तेरा भाई हुआ है। हे राजन्! इसके बाद का समरविजय का वृत्तांत तो तुझे भी प्रत्यक्ष रीति से ज्ञात ही है, इसके अतिरिक्त वह तेरा भाई तुझे चारित्र लेने के अनन्तर पुनः एक बार उपसर्ग करेगा।

तत्पश्चात् यह क्रूरता सहित रह कर त्रस और स्थावर जीवों का अहित करता हुआ, असह्य दुःखों से शरीर को जलाता हुआ अनंत भव भ्रमण करेगा।

यह सुन महान् वैराग्य प्राप्त कर राजा ने अपने भानजे हरिकुमार को राज्य भार सौंप दीक्षा ग्रहण की।

पश्चात् क्रमशः महान् तप से शरीर को सुखा तथा विविध पवित्र सिद्धान्त सीख, उज्ज्वल हो उसने अत्यंत कठिन एकल विहार अंगीकार किया। वह पूज्य मुनिराज किसी नगर के बाहर लम्बी भुजाएं करके कायोत्सर्ग में खड़ा था, इतने में पापिष्ट समर ने कहीं जाते हुए उसको देखा। तब वैर का स्मरण कर उसने मुनि के स्कंध पर तलवार का आघात किया, जिससे उक्त मुनि अति पीडित हो तत्काल पृथ्वीतल पर गिर पड़े।

मुनि सोचने लगे कि हे जीव ! तू ने अज्ञान वश निर्विवेक होकर नरक में अनन्त बार दुस्सह वेदनाएं सहन करी हैं व तिर्यच गति में भी तूने महान् भार वहन करने को, अंकन करने की, दुहाने की, लम्बी दूर चलने की, शीत, घाम सहन करने की तथा भूख, प्यास आदि की असह्य दुःख पीड़ाएं सहन की हैं। इसलिये हे धीर आत्मन् ! इस अल्प पीड़ा में तूं विषाद मत कर, कारण कि-समुद्र को तैर कर पार कर लेने पर छिछले पानी में कौन डूबता है ?

इससे हे जीव ! तूं विशुद्ध मन रखकर सकल जीवों पर क्रूर भाव का त्याग कर और इन बहुत से कर्म क्षय कराने में सहायता कराने वाले समरविजय पर तो विशेषता से क्रूर भाव का त्याग कर ।

हे जीव ! तेंने पूर्व में भी क्रूरता नहीं की, जिससे यहां तेंने धर्म पाया है, ऐसा चिन्तवन करते हुए उसने पाप निवारण करने के साथ ही प्राण का भी त्याग किया। वहां से वह सुखमय सहस्रार नामक देवलोक में सुकृत के जोर से देवता हुआ; वहां से च्यवन होने पर वह संतोषशाली जीव महा-विदेह में मनुष्य होकर मुक्ति पावेगा।

इस प्रकार अशुद्ध परिणाम को दूर करने के लिये श्री कीर्तिचन्द्र राजा का चरित्र भली भांति सुनकर जन्म, जरा व मृत्यु से भयभीत हे भव्य जनों ! तुम मुख्य बुद्धि से अक्रूरता नामक गुण को धारण करो।

॥ इति कीर्तिचन्द्र राजा की कथा समाप्त ॥

— ※ —

अक्रूरता रूप पञ्चम गुण का वर्णन किया, अब भीरुता रूप पष्ठ गुण का वर्णन करते हैं :—

इह परलोयावाए, संभावंतो न वट्टए पावे ।
बीहइ अजसकलंका, तो खलु धम्मारिहो भीरू ॥१३॥

मूल का अर्थ— इस लोक के व परलोक के संकटों का विचार करके ही पाप में प्रवृत्त न होवे और अपयश के कलंक से डरता रहे वह भीरु कहलाता है। इससे वैसा पुरुष ही धर्म के योग्य समझा जाता है।

टीका का अर्थ— इस लोक के अपाय याने राजनिग्रह आदि और परलोक के अपाय याने नरक गमनादिक. उनकी सम्भावना करता हुआ, (जो भीरु होवे वह) पाप में याने हिंसा, झूठ आदि में न वर्ते याने प्रवृत्त न हो तथा अपयश के कलंक से डरता हो अर्थात् ऐसा न हो कि अपने कुल को कलंक लग जाय. इस कारण से भी वह पाप में प्रवर्त्तित नहीं होता। उससे याने उस कारण खलु याने वास्तव में इस शब्द का सम्बन्ध ऊपर के पद के साथ जोड़ना, इस प्रकार कि-धर्म के अर्ह याने धर्म के योग्य, जो भीरु याने पाप से डरने वाले हों वही वास्तव में हैं, विमल के समान।

विमल की कथा इस प्रकार है।

श्री नन्दन (लक्ष्मी के पुत्र) समकर (मगर के चिन्ह वाले) कामदेव के समान श्री नन्दन (लक्ष्मी से आनन्द देने वाला समकर) कुशस्थल नामक नगर था। यहाँ चन्द्र के समान लोक-प्रिय कुवलयचन्द्र नामक एक सेठ था। उस सेठ की आनन्दश्री नामक स्त्री थी, जो पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की स्त्री लक्ष्मी के समान

अनुपम थी। उनके सदैव विनय भक्ति करने वाले विमल और सहदेव नाम के दो पुत्र थे।

बड़ा भाई विमल स्वभाव ही से पाप-भीरु था और छोटा भाई सहदेव उससे विरुद्ध स्वभाव वाला था। वे दोनों किसी समय वन में खेलने गये। वहाँ उन्होंने एक मुनि को देखा। उनके निर्मल चरण कमलों को नमन करके दोनों जन हर्षित हो कर उनके पास बैठ गये। तब मुनि ने उनको उचित व सकल जीव हितकारी धर्मोपदेश दिया।

सकल कर्मलेप से रहित देव, विशुद्ध गुणवान् गुरु और दयामय धर्म, ये इस जगत में रत्नत्रय कहलाते हैं। यह उपदेश सुन उन्होंने प्रसन्न हो सम्यक्त्व आदि गृहि (श्रावक) धर्म स्वीकार किया, कारण कि- यति धर्म की दुर्धर धुरा धारण करने में वे असमर्थ थे।

वे एक दिन पूर्व देश में माल लेने के लिए जा रहे थे। इतने में मार्ग के बीच में मिले हुए किसी पथिक ने विमल को इस प्रकार पूछा कि — भला भाई! कौन-सा मार्ग सुगम और विशेष ईंधन, घास तथा पानी से भरपूर है, सो हमको बताओ? तब अनर्थ दंड भीरु विमल बोला कि- इस सम्बन्ध में मैं कुछ नहीं जानता। तब पुनः वह पथिक बोला कि-हे सेठ! तुमको किस ग्राम अथवा नगर की ओर जाना है? तब विमल ने कहा कि- जहां माल सस्ता मिलेगा, वहां जाऊँगा। पथिक पुनः बोला कि- तुम्हारा नगर कौनसा है कि- जिसमें तुम रहते हो। तब विमल बोला कि-राजा के नगर में रहता हूँ, मेरा तो कोई नगर है ही नहीं।

पथिक बोला, हे विमल! जो तू कहे तो तेरे साथ मैं भी

आऊं। उसकी इस इच्छा पर विमल बोला कि – तुम्हारी इच्छा से तुम आओ, इसमें मुझे क्या पूछते हो।

अब वे एक नगर के समीप आ पहुँचे, वहां रसोई के लिये विमल ने अग्नि जलाई। इतने में पथिक ने आकर विमल से अग्नि मांगी। तब विमल कहने लगा कि–हे पथिक ! तुझे खाना हो तो मेरे पास खा ले, परन्तु अग्नि आदि भयंकर वस्तु तो मैं तुझे नहीं दे सकता। कारण कि शास्त्र में ऐसी वस्तुएं देने की मनाई की गई है।

इसी से कहा भी है कि—मद्य, मदिरा मांस, औषध, बूंटी, अग्नि, यंत्र तथा मंत्रादिक वस्तुएँ पाप भीरु श्रावकों ने कदापि किसी को नहीं देनी चाहिये। और भी कहा है कि—अग्नि, विष, शस्त्र, मद्य और पांचवां मांस ये पांच वस्तुएं चतुर पुरुषों ने किसी से न तो लेना और न किसी को देना ही चाहिये।

तब वह पथिक क्रोधित हो कहने लगा कि – रे दुष्ट निकृष्ट व दुष्ट ! तूं धर्मिष्ठता का ढोंग कर मेरे साथ इस प्रकार उत्तर प्रत्युत्तर करता है ? यह कह वह लोगों को डराने के लिये इस प्रकार अपना समस्त शरीर बढ़ाने लगा कि जिससे मानो; आकाश भी भयातुर होकर ऊंचा चढ़ गया। तथा वह विमल को कहने लगा कि—अरे ! मैं अत्यंत भूखा हूँ। इसलिये रसोई करने को मुझे अग्नि दे, अन्यथा मैं तेरे प्राण हरुंगा। तब विमल बोला कि – हे भद्र ! इन चंचल प्राणों के लिये कौन पाप-भीरु ऐसा पापमय कदम धरे।

जो इन अस्थिर, मलीन और परवश प्राणों से स्थिर, निर्मल और स्वाधीन धर्म साधन किया जा सकता हो, तो फिर और क्या चाहिये। अतएव तुझे करना हो सो कर, पर

मैं तो कुछ भी निरर्थक पाप नहीं करूंगा। यह सुन वह पथिक अपने बढ़ाये हुए शरीर को छोटा कर, अपना मूल दिव्य रूप प्रगट करके उससे यह कहने लगा।

हे अत्यंत गुणशाली विमल! तुझे धन्य है व तुंही पुण्यशाली है, क्योंकि इन्द्र भी तेरी पाप भीरुता की प्रकटतः प्रशंसा करता है। इसलिये हे सावद्य वचन वर्जन-परायण, हे निश्चल! हे उत्तम धर्मवान्! वरदान मांग। तब विमल बोला कि—हे देव! तू ने दर्शन दिये, इसी में सब कुछ दे दिया है। तथापि देव के आग्रह करने पर विमल ने कहा कि—हे भद्र! तो तूं तेरे मन को गुणीजन के गुण ग्रहण करने में तत्पर रख।

इस तरह उसके बिलकुल निरीह रहने पर देव ने बलात उसके उत्तरीय वस्त्र में सर्पविष-नाशक मणि बांध दी व पश्चात् वह स्वस्थान को चला गया। तब विमल ने सहदेव आदि को बुलाये। जिससे वे भी वहां आकर उक्त पथिक की बात पूछने लगे, तब उसने सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया।

पश्चात् देव गुरु का स्मरण कर भोजन करके वे नगर में गये। इतने में वहां उन्होंने बाजार में दूकानदारों को जल्दी २ दूकानें बन्द करते देखे। तथा प्रबल चतुरंगी सैन्य मानों सब युद्ध के लिये तैयार हुआ हो, उस भांति इधर उधर दौड़ा-दौड़ करता हुआ, किले को साफ कराता हुआ देखा तथा किले के द्वार बंद होते देखे।

यह विलक्षण दौड़ा दौड़ देख कर विमल ने किसी से पूछा कि—हे भद्र! यह सम्पूर्ण नगर ऐसा भयभ्रान्त कैसे हो रहा है? तब उस पुरुष ने विमल के कान में कहा कि—यहां बलिराजा को कैद करने वाले श्रीकृष्ण के समान बली,

दुश्मनों को वंदी करने वाला पुरुषोत्तम नामक राजा है। उसका बलवान दुश्मनों को जीतने वाला अरिमल्ल नामक इकलौता पुत्र है। वह आज क्रीड़ागृह में सो रहा था, इतने में उसको सर्प ने डस लिया।

तब उसकी स्त्रियों के जोर से चिल्लाने से सेवकों ने दौड़कर उक्त दुष्ट सर्प को बहुत देखा, परन्तु उसका पता न लगा। इतने में राजा भी वहां आ पहुँचा और कुमार को मृतवत् देखकर मूर्छित हो गया तथा पवनादिक उपचार से सुधि में आया। पश्चात् राजवैद्य वैद्यों ने अनेक उपचार क्रियाएँ की, किन्तु कुछ भी गुण नहीं हुआ। तब राजा ने निम्नानुसार अपना निश्चय प्रकट किया।

हे प्रधानों! जो किसी भी प्रकार इस कुमार को कुछ अनिष्ट होगा तो मैं भी प्रज्वलित अग्नि ही की शरण लूंगा। इस बात की खबर रानियों को होते ही वे भी करुण स्वर से रुदन कर रही हैं, और सामंत-सरदार भी विषाद युक्त हो रहे हैं, तथा सम्पूर्ण नगरजनों में खलबली मच रही है। अब राजा ने आकुल होकर नगर में ढिंढोरा फिरवाया है कि जो कोई इस कुमार को जीवित करे उसे मैं अपना आधा राज्य दूं।

यह सुन सहदेव विमल को कहने लगा कि– हे भाई! यह उपकार करने योग्य है, इसलिये मणि को घिसकर तूं कुमार पर छींट कि जिससे यह जल्दी जीवित होवे। विमल ने कहा कि– हे बन्धु! राज्य के कारण ऐसा भारी अधिकरण कौन करे? तब सहदेव कहने लगा कि—कुमार को जीवित करके अपने कुल का दारिद्र दूर कर। कारण कि कदाचित् कुमार जीवित होने पर जिन धर्म को भी पालन करेगा।

इत्यादिक उसके बोलने पर ज्योंही विमल उसे कुछ उत्तर देने लगा कि इतने ही में सहदेव ने उसके वस्त्र में से मणि छोड़ ली व पड़ह को स्पर्श किया। पड़ह छूने से वह कुमार के पास ले जाया गया, वहां उसने मणि को घिसकर कुमार पर छिटकी। इतने ही में क्षणभर में जैसे नींद में सोया हुआ मनुष्य उठता है वैसे ही कुमार उठ कर राजा से पूछने लगा। हे पिताजी! यह मनुष्य, मेरी माता, अन्तःपुर तथा ये नगरवासी जन यहां किस लिये एकत्रित हुए हैं? तब राजा ने सब वृत्तान्त कहा।

पश्चात् राजा ने हर्षित हो अपने राज्य का अर्द्ध-भाग लेने के लिये सहदेव को विनती करी। तब वह बोला कि—हे राजन्! जिसके प्रभाव से यह कुमार जीवित हुआ है। वह निर्मल आशयवान् मेरा ज्येष्ठ भ्राता तो सपरिवार बाजार में खड़ा है। इसलिये उसको यहां बुलवाकर यह राज्य दो।

तब राजा सहदेव के साथ एक उत्तम हाथी पर चढ़कर वहां गया। वहां विमल को देख कर बड़े हर्ष से उससे भेट कर वह इस प्रकार बोला।

हे विमल! मुझ व्याकुल हुए को तूं ने पुत्र भिक्षा दी है, इसलिये कृपा कर शीघ्र मेरे घर चल कर मुझे प्रसन्नकर। जैसे २ राजा उससे प्रीतिपूर्ण वचन कहने लगा वैसे २ विमल के हृदय में महान् अधिकरण प्रवृत्ति होने का दोष खटकने लगा। जिससे उसने प्रत्युत्तर दिया कि—हे नरेन्द्र! हे अन्याय रूप विष के फैलाव को रोकने वाले उत्तम राजेन्द्र! यह तो सर्व सहदेव का कार्य है, अतएव उसका जो कुछ भी करना योग्य हो सो करो।

तब राजा विमल व सहदेव को हाथी पर चढ़ाकर अपने प्रासाद को लाया, और राज्य लेने के लिये विनती करने लगा। तब विमल ने उसे निम्नाङ्कित उत्तर दिया।

राज्य लेने से एक तो खर कर्म करना पड़ते हैं तथा दूसरे परिग्रह वृद्धि होती है। इसलिये हे राजन्! पाप-मूल राज्य के साथ मुझे काम नहीं। तब सहदेव को कुछ उत्सुक समझ कर उसको राजा ने हाथी, घोड़े, रथ, पैदल, देश, नगर आदि सर्वस्व आधा २ बांट कर, स्वाधीन किया। तथा कमल सम्पन्न सरोवर की भांति कमला (लक्ष्मी) से परिपूर्ण एक धवल-प्रासाद राजा ने उसको दिया, और विमल को उसकी अनिच्छा होते हुए भी नगर सेठ का पद दिया।

तदनन्तर सहदेव तथा विमल ने मिलकर अपने माता पिता आदि का योग्य आदर सत्कार किया। पश्चात् विमल वहां रह कर जिनधर्म का पालन करता हुआ काल व्यतिक्रमण करने लगा। परन्तु सहदेव राज्य में राष्ट्र में और विषयों में अतिशय लीन होकर नवीन कर प्रचलित करने लगा। पुराने कर बढ़ाने लगा। तथा लोगों को सख्ती से दंड देने लगा। वैसे ही पापोपदेश देने लगा। अनेक अधिकरण बढ़ाने लगा। दुश्मनों के देश तोड़ने लगा (भंग करने लगा) इत्यादि अशुभ ध्यान में फंस गया। उसे देखकर विमल एक वक्त इस प्रकार कहने लगा।

हे भाई! हाथी के कर्ण के समान चपल राज्यलक्ष्मी के कारण अपनी नियम शृंखला का भंग कर कौन पाप में प्रवर्तित होता है। हे भाई! अग्नि में प्रवेश करना उत्तम, सर्प के मुख के विवर में हाथ डालना अच्छा तथा चाहे जिस विषम रोग की पीड़ा उत्तम, परन्तु व्रत की विराधना करना अच्छा नहीं।

यह सुन कर पानी से भरे हुए मेघ के समान सहदेव ने काला मुंह किया, जिससे विमल ने उसे अयोग्य जानकर मौन धारण कर लिया। पश्चात् सहदेव की जिनधर्म पर से प्रीति कम होती गई और पाप मति स्फुरित होने से वह विरतिहीन होकर नाना प्रकार के अनर्थ-दंड करके सम्यक्त्व भ्रष्ट हो गया। पश्चात् किसी प्रथम के विरोधी पुरुषने किसी समय कपट कर सहदेव को छुरी से मार डाला, और वह प्रथम नारकी में गया।

तदनंतर महान् गंभीर संसार समुद्र में भटकते हुए असह्य दुःख भोग कर जैसे तैसे मनुष्य भव प्राप्त कर कर्म क्षय करके वह मुक्ति प्राप्त करेगा।

इधर अत्यंत पाप-भीरु विमल गृहिधर्म का पालन कर प्रवर देवता हो महाविदेह में जन्म लेकर सिद्धि पावेगा।

इस प्रकार कर्म की अणियों से अस्पृष्ट विमल का यह चरित्र जानकर, हे जनों! तुम सम्यक्त्व और चरित्र में धीर होकर पापभीरु बनो। इस प्रकार विमल का दृष्टांत समाप्त हुआ।

—+×+—

भीरुता रूप षष्ठ गुण कहा, अब अशठता रूप सप्तम गुण को स्पष्ट करते हैं:—

असढो परं न वंचइ, वीससणिज्जो पसंसणिज्जो य।
उज्जमइ भावसारं, उचिओ धम्मस्स तेणेसो ॥ १४ ॥

मूल का अर्थ—अशठ पुरुष दूसरे को ठगता नहीं, उससे वह विश्वास करने योग्य तथा प्रशंसा करने योग्य होता है, और भाव पूर्वक उद्यम करता है, अतः वह धर्म के योग्य माना जाता है।

टीका का अर्थ--शठ याने कपटी, उससे विपरीत वह अशठ अर्थात निष्कपटी पुरुष, पर याने अन्य को वंचता नहीं याने ठगता नहीं।

इसी से वह विश्वसनीय याने प्रतीति योग्य होता है, परन्तु कपटी पुरुष तो कदाचित् न ठगता होवे तो भी उसका कोई विश्वास करता नहीं।

यदुक्तं—

मायाशीलः पुरुषो यद्यपि न करोति किंचिदपराधम्।
सर्प इवाऽविश्वास्यो, भवति तथाऽप्यात्मदोषहतः ॥१॥

जैसे कहा है कि—कपटी पुरुष यद्यपि कुछ भी अपराध न करे, तथापि अपने उक्त दोष के जोर से सर्प के समान अविश्वासी रहता है तथा उक्त अशठ पुरुष प्रशंसनीय याने गुण गाने के योग्य भी होता है।

यदवाचि—

यथा चित्तं तथा वाचो, यथा वाचस्तथा क्रिया।
धन्यास्ते त्रितये येषां, विसंवादो न विद्यते ॥ १ ॥

कहा है कि—जैसा चित्त होता है वैसी ही वाणी होती है और जैसी वाणी होती है वैसी ही कृति होती है। इस प्रकार तीनों विषय में जिन पुरुषों का अविसंवाद हो, वे धन्य हैं तथा अशठ पुरुष धर्मानुष्ठान में भावसार पूर्वक याने सद्भाव पूर्वक अर्थात अपने चित्त को प्रसन्न करने के लिए उद्यम करता है याने प्रवर्तित होता है, न कि पर रंजन के लिये। स्वचित्त रंजन यह वास्तव में कठिन कार्य है।

तथा चोक्तं—

भूयांसो भूरिलोकस्य, चमत्कारकरा नराः।
रंजयन्ति स्वचित्तं ये, भूतले तेऽथ पञ्चषाः ॥ १ ॥

इसीसे कहा है कि— अन्य बहुत से लोगों को चमत्क
उत्पन्न करने वाले मनुष्य तो बहुत मिल जाते हैं, परन्तु जो इ
पृथ्वी पर अपने चित्त का रंजन करते हैं, वे तो पाँच छः ही मिलेंगे

तथा —

कृत्रिमै र्डम्बरैश्चित्रैः, शक्यस्तोषयितुं परः ।
आत्मा तु वास्तवैरेव हतकः परितुष्यति ॥ २ ॥

और भी कहा है कि- दूसरों को तो अनेक प्रकार के कृत्रि
आडंबरों से प्रसन्न किया जा सकता है, परन्तु यह आत्मा त
वास्तविक रचना ही से परितोष पाती है। इसी कारण से ये या
अशठ पुरुष पूर्व वर्णित स्वरूप वाले, धर्म को उचित याने योग
माने जाते हैं, सार्थवाह के पुत्र चक्रदेव के सदृश।

❀ चक्रदेव का चरित्र इस प्रकार है ❀

विदेह देश में बहुत-सी बस्ती से भरपूर चम्पा नामक नग
था, वहां अतिक्रूर रुद्रदेव नामक सार्थवाह था। उक्त सार्थवा
को सोमा नामक भार्या थी, वह स्वभाव ही से सौम्य थी। उस
बालचन्द्रा नामक गणिनी के पास से गृहिधर्म अंगीकार किया था
उसे कुछ विषय से विमुख हुई देखकर उसका पति क्रोधि
हो कहने लगा कि- सर्प के समान भोग में विघ्न करने वाले इ
धर्म को छोड़ दे।

उसने उत्तर दिया कि— रोगों के समान भोगों की मुझे
आवश्यकता नहीं, तब वह बोला कि- हे मूर्ख स्त्री ! तू दृष्ट
को छोड़कर अदृष्ट की किसलिये कल्पना करती है। वह बोली
कि- ये विषय तो पशु भी भोग सकते हैं, यह प्रत्यक्ष है और
विविध प्रकार का धर्म करने से तो सब कोई आज्ञा पालें ऐसा
ऐश्वर्य प्राप्त होता है, यह तुम प्रत्यक्ष देखते हो। तब उत्तर देने

में असमर्थ हुआ रुद्रदेव सोमा से विलक्ष मन करके उसके ऊपर अतिशय विरक्त हो गया तथा उसके साथ बोलना आदि बन्द करता है।

पश्चात् उसने दूसरी स्त्री से विवाह करने का विचार किया, परन्तु सोमा के रहने के कारण प्राप्त नहीं कर सका, इससे उसे मार डालने के लिये एक सर्प को घड़े में डालकर वह घड़ा घर में रख दिया। पश्चात् वह स्त्री को कहने लगा कि- हे प्रिया! अमुक घड़े में से पुष्प-माला निकाल ला, तदनुसार सरल-हृदया सोमा ने घड़े में ज्योंही अपना हाथ डाला, त्यों ही उसमें स्थित काले नाग ने उसे डस लिया।

उसने पति को कहा कि- मुझे तो सर्प ने डस लिया है, तब महाकपटी होने से गारुडियों को बुलाने के लिये चिल्ला २ कर शोर करने लगा। इतने में तो तुरन्त उसके केश खिर पड़े, दांत गिर गये और विष से मानो भयातुर हो उस प्रकार प्राण दूर हो गये। वह सोमा सम्यक्त्व कायम रखकर सौधर्म-देवलोक के लीलावतंसक नामक विमान में पल्योपम के आयुष्य वाली देवांगना हुई।

रुद्र परिणामी उस रुद्रदेव ने अब नागदत्त नामक श्रेष्ठी की नागश्री नाम की पुत्री से विवाह किया और अनीति मार्ग में रत रहता हुआ पंच विषय भोगने लगा। वह रुद्र ध्यान में तल्लीन रहकर मृत्यु पा प्रथम नारकी में खाडखड नामक नरक-वास में पल्योपम के आयुष्य से नारकोपन में उत्पन्न हुआ।

अब सोमा का जीव सौधर्म-देवलोक से च्यवन कर विदेह देशान्तर्गत सुसुमार पर्वत में श्वेतकांति वाला हाथी हुआ। रुद्रदेव का जीव भी नारकी से निकल कर उसी पर्वत में शुकरूप

में उत्पन्न हुआ, वह मनुष्य की भाषा बोलता हुआ शुकी के साथ क्रीड़ा करता हुआ वहां भ्रमण करता था। उसने किसी समय उक्त हाथी को अनेक हथिनियों के साथ फिरता हुआ देखकर पूर्व भव के अभ्यास से महा-कपटी होकर निम्नानुसार विचार किया।

इस हाथी को ऐसे विषय सुख से किस प्रकार मैं अलग करूं, इस विषय में सोचता हुआ वह अपने घोंसले में आकर बैठ गया। इतने में वहां चंद्रलेखा नामकी विद्याधरी को हरण क लीलारति नामक विद्याधर आ पहुँचा, वह भयभीत होने से उक्त शुक (तोते) को कहने लगा कि - हम इस झाड़ी में घुसकर बैठते हैं, यहां एक दूसरा विद्याधर आने वाला है उसको मेरा पता मत देना, और वह वापस चला जावे तब मुझे कह देना। हे दुग्ध और मधु के समान मृदुभाषी शुक! जो तू मेरा यह उपकार करेगा तो, मैं तेरा भी योग्य प्रत्युपकार करूंगा।

इतने में वह विद्याधर आ पहुँचा और वहां लीलारति को न देखकर लौट गया, तब शुक ने यह बात छिपे हुए विद्याधर को कही जिससे वह हृदय में प्रसन्न हुआ। इसी बीच में उक्त हाथी स्वेच्छा से घूमता हुआ वहां आ पहूँचा, उसको देखकर शुक विचार करने लगा कि यह उत्तम अवसर है। इससे वह महा-कपटी होकर हाथी के पास जा अपनी स्त्री से कहने लगा कि, वशिष्ट मुनि ने कहा है कि यह कामित तीर्थ नामक क्षेत्र है। यहां जो भृगुपात करता है वह मनवांछित फल पाता है, यह कह कर स्त्री के साथ वहां से झंपापात के ढोंग से गिरकर नीचे छुप गया।

पश्चात् उसके कहने से लीलारति विद्याधर अपनी स्त्री सहित चपल कुंडल बनाता हुआ आकाश में उड़ता गया। यह दृश्य देखकर हाथी विचार करने लगा कि यह वास्तव में कामित तीर्थ है क्योंकि यहां से गिरा हुआ शुक का जोड़ा विद्याधर का जोड़ा बनगया है। इसलिये मुझे भी इस तिर्यंचपन से क्या काम है? ऐसा सोचकर पर्वत पर से उसने वहां झंपापात किया, इतने में शुक का जोड़ा वहां से उड़ गया।

इधर उक्त हाथी के अंगोपांग चूरचूर हो गये व उसे महा वेदना होने लगी, तथापि वह शुभ अध्यवसाय रखकर व्यंतर देवता हुआ। अतिशय क्लिष्ट परिणामी और विषयासक्त शुक मरकर प्रथम नारकी के अत्यन्त दुस्सह दुःख से भरपूर लोहिताक्ष नामक नरकवास में गया।

इसी बीच विदेह क्षेत्र में चक्रवाल नगर में अप्रतिहत चक्र नामक एक महान् सार्थवाह रहता था और उसकी सुमंगला नामक स्त्री थी। उक्त हाथी का जीव व्यंतर के भव से च्यवन करके उनके घर पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। उसका नाम चक्रदेव रखा गया। वह सदैव अपने गुरु-जन की सेवा में तत्पर रहने लगा।

उक्त शुक का जीव भी नारकी में से निकलकर उसी नगर में सोम पुरोहित का यज्ञदेव नामक पुत्र हुआ। पश्चात् चक्रदेव व यज्ञदेव दोनों युवावस्था को प्राप्त हुए।

उन दोनों में एक को शुद्ध भाव से और दूसरे को कपट भाव से मित्रता हो गई। पश्चात् पूर्वकृत कर्म के दोष से पुरोहित का पुत्र एक समय यह सोचने लगा कि— इस चक्रदेव को ऐसी अतुल लक्ष्मी के विस्तार से किस प्रकार भ्रष्ट करना। इस प्रकार सोचते २ उसे एक उपाय सूझा। उसने निश्चय किया कि चन्दन

सार्थवाह का घर लूटकर उसका धन चक्रदेव के घर में रखना व बाद में राजा को कहकर इसे पकड़ा कर इसकी सर्व-सम्पत्ति जप्त करवाना।

तदन्तर उसने वैसा ही कर चक्रदेव के समीप आकर कहा कि हे मित्र! मेरा यह द्रव्य तूं तेरे पास घर में रख ले। तब सरल हृदय चक्रदेव ने वही किया।

इतने में नगर में चर्चा चली कि चन्दन सार्थवाह का घर लूट गया है। यह सुन चक्रदेव ने यज्ञदेव को पूछा कि– हे मित्र! यह द्रव्य किसका है? तब वह बोला कि–यह मेरा द्रव्य है, किन्तु पिता के भय से तेरे यहां छिपाया है, अतएव हे चक्रदेव! तूं इस विषय में लेश-मात्र भी शंका मत कर।

इधर चन्दन श्रेष्ठी ने अपना जो-जो द्रव्य चोरी गया था, वह राजा से कहा, जिससे राजा ने नगर में निम्नाङ्कित उद्घोषणा कराई। जिस किसी ने चन्दन का घर लूटा हो, वह इसी वक्त मुझे आकर कह जावेगा तो उसे दंड नहीं दिया जावेगा, अन्यथा बाद में कठिन दंड दिया जावेगा।

पांच दिन व्यतीत होने के उपरांत पुरोहित पुत्र यज्ञदेव राजा के पास जाकर कहने लगा कि– हे देव! यद्यपि अपने मित्र का दोष प्रकट करना योग्य नहीं। तथापि यह अति विरुद्ध कार्य है, यह सोचकर मैं उसे अपने हृदय में छुपा नहीं सकता कि चन्दन का द्रव्य अवश्य चक्रदेव के घर में होना चाहिए।

राजा बोला– अरे! वह तो बड़ा प्रतिष्ठित पुरुष है। वह ऐसा राज्य-विरुद्ध काम कैसे कर सकता है? तब यज्ञदेव बोला महाराज! महान् पुरुष भी लोभान्ध होकर मूर्ख बन जाते हैं। राजा बोला अरे! चक्रदेव तो सदैव संतोष रूपी अमृत पान में

परायण सुना जाता है। यज्ञदेव बोला— हे महाराज! वृक्ष भी इस द्रव्य को पाकर अपनी पींड से घेर लेते हैं। राजा बोला— वह तो बड़ा कुलीन सुनने में आता है। यज्ञदेव बोला— महाराज! इसमें निर्मल कुल का क्या दोष है? क्या सुगन्धित पुष्पों में कीड़े नहीं होते? राजा बोला— जो ऐसा ही है तो उसके घर की झड़ती लेना चाहिए। यज्ञदेव बोला— आपके सन्मुख क्या मेरे जैसे व्यक्ति से असत्य बोला जा सकता है।

तब राजा ने कोतवाल तथा चन्दन श्रेष्ठी के भंडारी को बुलाकर कहा कि- तुम चक्रदेव के घर जाकर चोरी गये हुए माल की शोध करो।

तब कोतवाल विचार करने लगा कि— अरे! यह तो असम्भव बात की आज्ञा दी जा रही है। क्या सूर्य विम्ब में अन्धकार का समूह पाया जाता है? तो भी स्वामी की आज्ञा का पालन करना ही चाहिए, यह सोचकर वह चक्रदेव के घर पर आया और कहने लगा कि— हे भद्र! क्या तूं चन्दन के चोरी गये हुए द्रव्य के विषय में कुछ जानता है?

चक्रदेव बोला— नहीं, नहीं! मैं कुछ भी नहीं जानता। कोतवाल बोला— तो तूं मुझ पर जरा भी क्रोध न करना, क्योंकि मैं राजा की आज्ञानुसार तेरे घर की कुछ तपास करूंगा। चक्रदेव बोला— इसमें क्रोध करने का क्या काम है? क्योंकि न्यायवान् महाराजा की यह सब योजना केवल प्रजा पालन ही के लिए है।

तब कोतवाल उसके घर में घुसकर ध्यानपूर्वक देखने लगा तो उसने चन्दन के नाम वाला स्वर्ण-पात्र देखा। तब कोतवाल खिन्न-चित्त हो पूछने लगा कि— हे चक्रदेव! तुझे यह पात्र कहाँ

से मिला है? तब चक्रदेव विचार करने लगा कि- मित्र की धरोहर को कैसे प्रकट करूं, इससे वह बोला कि यह मेरा निज का है। कोतवाल बोला- तो इस पर चन्दन का नाम क्यों है? चक्रदेव बोला- किसी भी प्रकार से नाम बदल जाने से ऐसा हुआ जान पड़ता है। कोतवाल बोला- जो ऐसा है तो बता कि इस पात्र में कितने मूल्य का सुवर्ण है? चक्रदेव बोला-चिरकाल से रखा हुआ है, अतएव मुझे ठीक-ठीक स्मरण नहीं, तुम्हीं देखलो. कोतवाल बोला- हे भांडारिक! इसमें कितना द्रव्य लगा है? उसने उत्तर दिया कि-दस हजार। तब वही निकलवा कर देखा तो सब उसी अनुसार लिखा हुआ पाया, तब कोतवाल चक्रदेव को कहने लगा कि- हे भद्र! सत्य बात कह दे।

चक्रदेव ने विचार किया कि, मुझ पर विश्वास धरने वाले, मेरे साथ मिट्टी में खेलने वाले सहृदय मित्र का नाम कैसे बताऊँ? यह सोचकर पुनः बोला कि- यह तो मेरा ही है। कोतवाल बोला- तेरे घर में पर-द्रव्य कितना है?

चक्रदेव बोला- मेरा तो स्वतः का ही बहुत-सा है, मुझे पर की आवश्यकता ही क्या है। तब कोतवाल ने सारे घर की खोज करके उक्त छिपाया हुआ द्रव्य पाया. जिससे उसने क्रोधित होकर चक्रदेव को बांध कर राजा के सन्मुख उपस्थित किया।

राजा उससे कहने लगा कि- तेरे समान अप्रतिहत चक्र सार्थवाह के पुत्र में ऐसी बात संभव नहीं, इसलिये जो सत्य बात हो सो कह दे। तब परदोष कहने से विमुख रहने वाला चक्रदेव कुछ भी नहीं बोला। जिससे राजा ने उसको नाना प्रकार से विडंबित करके देश से निर्वासित कर दिया।

अब चक्रदेव के मन में बड़ी खिन्नता उत्पन्न हुई और महान्

पराभव रूप दावानल से उसका शरीर जलने लगा। जिससे वह सोचने लगा कि अब मान भ्रष्ट होकर मेरा जीवित रहना किस काम का है ? कहा भी है कि—

प्राण छोड़ना उत्तम, परन्तु मान भंग सहन करना अच्छा नहीं, कारण कि प्राण त्याग करने में तो क्षण भर दुःख होता है, परन्तु मान भंग होने से प्रतिदिन दुःख होता है।

यह विचार कर नगर के बाहर एक वट वृक्ष में उसने अपने गले में फांसी दी, इतने में उसके गुण से पुरदेवता ने शीघ्र उस पर प्रसन्न होकर राजमाता के मुख में स्थित हो चक्रदेव के फांसी लेने तक का वृत्तान्त कहा, जिससे दुःखित राजा सोचने लगा-

उपकारी व विश्वस्त आर्यजन पर जो पाप का आचरण करे, वैसे असत्य प्रतिज्ञा वाले मनुष्य को हे भगवती वसुधा ! तूं कैसे धारण करती है।

(नगर देवता ने ऐसा विचार राजा के मन में प्रेरित किया) जिससे राजा ने यह विचार कर पुरोहित पुत्र को शीघ्र पकड़वा कर कैद किया और स्वयं सार्थवाह के पुत्र का पीछा कर वहां उसे फांसी लेते देखा। राजा ने तुरन्त उसकी फांसी काटकर उसे हाथी पर चढ़ाकर बड़ी धूमधाम से नगर में प्रवेश कराया।

सभा में आते ही राजा ने उसे कहा कि— हे महाशय ! हमारे सब तरह पूछने पर भी तुमने परदोष प्रगट नहीं किया, यह तेरे समान कुलीन पुरुष को वास्तव में योग्य ही है, किन्तु इस विषय में मैंने अज्ञान रूप असावधानी के कारण तेरा जो अपराध किया है, उस सब को तूं क्षमा कर, क्योंकि सत्पुरुष क्षमावान होते हैं।

इतने में सुभट पुरोहित पुत्र को बांधकर वहां लाये, उसे

देख राजा ने क्रोध से आरक्त नेत्र कर प्राणदण्ड की आज्ञा दी। तब चक्रदेव कहने लगा कि—इस वत्सल हृदय, सरल प्रकृति मेरे मित्र ने और कौनसा विरुद्ध कार्य किया है?

तब राजा ने नगर देवता का कहा हुआ उसका सब दुष्कर्म कह सुनाया, जिसे सुन सार्थवाह पुत्र विचारने लगा कि- अमृत में से विष कैसे पैदा हो अथवा चन्द्र बिम्ब में से अग्नि वर्षा कैसे हो, इसी प्रकार ऐसे मित्र द्वारा ऐसा निकृष्ट कर्म कैसे हुआ होगा।

इस प्रकार विचार करके चक्रदेव ने राजा के चरणों में प्रणाम करके (विनंती करके) अपने मित्र को छुडाया। तब राजा हर्षित होकर बोला कि - उपकारी अथवा निर्मत्सरी मनुष्य पर दयालु रहना, इसमें कौन-सा बडप्पन है? किन्तु शत्रु और बिना विचारे अपराध करने वाले पर जिसका मन दयालु हो, उसी को सज्जन जानना।

तदनंतर शतपत्र नामक पुष्प के समान निर्मल चरित्र उक्त सार्थवाह पुत्र को सुभटों के साथ उसके घर विदा किया। इसके उपरांत चक्रदेव ने यज्ञदेव को प्रीतियुक्त वचनों से बुलाया, तथा सत्कार सम्मान देकर उसके घर भेजा।

तब नगर-जनों में चर्चा चली कि, इस सार्थवाह पुत्र को ही धन्य है कि जिसकी अपकार करने वाले पर भी ऐसी बुद्धि स्फुरित होती है। अब उक्त चक्रदेव ने वैराग्य मार्ग में लीन होकर किसी दिन श्री अग्निभूति नामक गुरु के पास दुःख रूपी कक्ष-वन को जलाने के लिए अग्नि के समान दीक्षा ग्रहण की।

वह दीर्घकाल तक अति उग्र साधुत्व तथा निष्कपट ब्रह्मचर्य का पालन कर ब्रह्म देवलोक में नव सागरोपम की आयुष्य वाला देव हुआ। वहां से च्यवन कर वह शत्रुओं से अजेय मंगलावती

विजयान्तर्गत बहुरत्न सम्पन्न रत्नपुर नगर में रत्नसार नामक महा सार्थवाह के घर उसकी श्रीमती नामकी भार्या के गर्भ से चन्दनसार नामक पुत्र हुआ। उसने चन्द्रकान्ता नामक स्त्री से विवाह किया, और दोनों स्त्री पुरुष जिन-धर्म का पालन करने लगे।

यज्ञदेव भी मृत्यु पाकर दूसरी नारकी में उत्पन्न हो, वहां से पुनः उसी नगर में एक शिकारी कुत्ता हुआ। वहां से बहुत से भव-भ्रमण करने के अनन्तर उपरोक्त रत्नसार सार्थवाह की दासी का अधनक नामक पुत्र हुआ। वहां पुनः उन दोनों की प्रीति हो गई।

एक दिन राजा दिग्यात्रा को गया था, उस समय विन्ध्य केतु नामक भील सरदार ने रत्नपुर को भंग कर बहुत से मनुष्यों को कैद कर लिया। इस धर-पकड़ में वे लोग चन्द्रकान्ता को भी हर ले गये। शेष लोग इधर-उधर भाग गये। पश्चात् उक्त भील-सरदार ने वहां से लौटकर प्राचीन कुए के किनारे पडाव डाला।

पूर्ण दिवस व्यतीत हो जाने पर रात्रि को प्रयाण के समय अत्यन्त आतुरता के कारण नौकर-चाकरों के अपने-अपने काम में लग जाने पर, वैसे ही महान कोलाहल से आकाश को गूंजते हुए लश्कर व कैदियों के आगे रवाना होने पर उक्त चंदनसार की पत्नी अपने शील-भंग के भय से पञ्च परमेष्ठी नमस्कार मंत्र का स्मरण करती हुई उस कुए में कूद पड़ी। किन्तु भवितव्यता के बल से वह उथले पानी में गिरने से जीवित रह गई, पश्चात् कुए की पाल (अंदर के किनारे) में रहकर उसने कुछ दिन व्यतीत किये।

इधर धाडेतियों के लौट जाने ही चन्दनसार अपने नगर में आ पहुँचा. यहां अपनी स्त्री हरण की बात ज्ञात कर वह विरह के दुःख से बड़ा दुःखी होने लगा. पश्चात् उसको छुड़ाने के लिए

भाता (नाश्ता) तथा द्रव्य ले चन्दनसार अधनक को साथ में लेकर रवाना हुआ, वे दोनों व्यक्ति साथ में लिये हुए भार को बारी-बारी से ले जाने लगे. क्रमशः चलते-चलते वे उक्त प्राचीन कुए के पास पहुँचे, उस समय दासी पुत्र के पास द्रव्य की वसनी थी तथा चन्दनसार के पास भाता था।

उस समय पूर्व भव के अभ्यास से दासी पुत्र विचार करने लगा कि यह शून्य जंगल है, सूर्य भी अस्त हो गया है इससे खूब अंधकार हो गया है। इसलिये इस सार्थवाह पुत्र को इस कुए में डालकर मेरे साथ के द्रव्य से मैं आनंद भोगूं। यह सोच वह महा कपटी, कहने लगा कि– हे स्वामी ! मुझे बहुत तृषा लगी है। तब सरल स्वभावी चन्दनसार ज्योंही उक्त कुए में पानी देखने लगा त्यों ही उस महापापी ने उसे कुए में ढकेल दिया, और आप वहां से भाग गया।

अब चन्दनसार सिर पर भाते की गठड़ी के साथ पानी में गिरा ! वह (जीता बचकर) ज्योंही बाजू की पाल में चढ़ा त्योंही उसका हाथ उसमें स्थित चन्द्रकान्ता को जाकर लगा। तब चन्द्रकान्ता भयभीत होकर " नमो अरिहंताणं " का उच्चारण करने लगी। इस शब्द से उसे पहिचान कर चन्दन बोला " जैन धर्मियों को अभय है "। यह सुन उसे अपना पति जानकर चन्द्रकान्ता उच्च स्वर से रोने लगी। पश्चात् सुख दुःख की वार्ता से उन्होंने रात्रि व्यतीत करी।

प्रातःकाल सूर्योदय के अनन्तर उक्त भाता दोनों ने खाया, इस प्रकार कितनेक दिन व्यतीत करते भाता संपूर्ण हो गया। अब चन्दन कहने लगा कि, हे प्रिये ! जैसे गंभीर संसार में से ऊंचा चढ़ना कठिन है, वैसे ही इस विकट कुए में से भी ऊपर

निकलना सचमुच कठिन है। इसलिये हम अनशन करें कि जिससे यह मनुष्य भव निरर्थक होने से बचे। चन्दन के यह कहते ही उसका दक्षिण नेत्र स्फुरण हुआ। साथ ही चन्द्रकान्ता की वाम चक्षु स्फुरित हुई, तब चंदन बोला कि, हे प्रिये! मैं सोचता हूँ कि इस अंग स्फुरण के प्रमाण से अपना यह संकट अब अधिक काल तक नहीं रहेगा।

इतने में वहां नंदिवर्द्धन नामक सार्थवाह जो कि रत्नपुर नगर की ओर जा रहा था, आ पहुँचा। उसने अपने सेवकों को पानी लेने के लिये भेजे। वे ज्योंही कुए में देखने लगे कि उनको चंदन व चन्द्रकान्ता दृष्टि में आये। जिससे उन्होंने सार्थवाह को कहकर मांची द्वारा उनको बाहर निकाले।

पश्चात् सार्थवाह के पूछने पर चन्दन ने सर्व वृत्तांत कह सुनाया, तदनन्तर वे अपने नगर की ओर रवाना हुए, इस प्रकार पांच दिन मार्ग में व्यतीत किये। छठे दिन चलते २ उन्होंने राज-मार्ग में सिंह द्वारा फाड़कर मारा हुआ एक मनुष्य देखा, उसके पास द्रव्य की भरी हुई वसनी मिल जाने से उन्होंने जाना कि-हाय-हाय! यह तो बेचारा अधनक ही है। पश्चात् उक्त द्रव्य ले रत्नपुर में आकर अतिशय विशुद्ध परिणामों से उस द्रव्य को उन्होंने सुपात्र में व्यय किया।

तत्पश्चात् विजय वर्द्धनसूरि से निर्दोष दीक्षा ग्रहण कर चंदन शुक्र देवलोक में सोलह सागरोपम की आयुष्य वाला देवता हुआ.

वहां से च्यवन करके इस भरत क्षेत्र के अन्तर्गत रथवीरपुर नामक नगर में नंदीवर्द्धन नामक गृहपति की सुन्दरी नाम की भार्या की कुक्षी में यह पुत्र हुआ। उसका नाम अनंगदेव रखा गया तथा यह अनंग (काम) के समान ही सुन्दर रूपशाली हुआ.

उसने श्री देवसेन आचार्य से गृहि-धर्म अंगीकार किया।

उक्त अधनक भी सिंह द्वारा मारा जाने से वालुकाप्रभा नारकी में जाकर, वहां से सिंह हुआ। वहां से पुनः अशुभ परिणाम से उसी नारकी में गया। पश्चात् बहुत से भव भ्रमण करके वहीं सोम सार्थवाह की नन्दमती भार्या के गर्भ से धनदेव नामक पुत्र हुआ।

निष्कपटी अनंगदेव और कपटी धनदेव की पुनः वहां परस्पर प्रीति हुई। वे दोनों व्यक्ति द्रव्योपार्जन के हेतु किसी समय रत्नद्वीप में गये। वहां से बहुत सा द्रव्य प्राप्त करने के अनन्तर कितनेक दिनों में अपने नगर की ओर लौटे इतने में धनदेव ने अपने मित्र को ठगने का विचार किया।

जिससे उसने किसी ग्राम के बाजार में जा दो लड्डू बनवाये, पश्चात् एक में विष डालकर सोचा कि—यह लड्डू मित्र को दूंगा। किन्तु मार्ग में चलते चित्त आकुल होने से उसकी याद दास्त बदल गई। जिससे उसने मित्र को अच्छा लड्डू दिया और विषयुक्त स्वयं ने खाया। जिससे अति तीव्र विष की दुःसह पीड़ा से पीड़ित होकर धनदेव धर्म के साथ ही जीवन से भी रहित होकर मर गया।

इससे अनंगदेव उसके लिये बहुत शोक कर, उसका मृतकर्म करके क्रमशः अपने नगर में आया और उसके स्वजन सम्बन्धियों से सब वृत्तान्त कहा।

पश्चात् उनको बहुत सा द्रव्य दे, अपने माता पिता आदि की अनुमति लेकर अनंगदेव ने पूर्व परिचित श्री देवसेन गुरु से उभय लोक हितकारी दीक्षा ग्रहण की।

वह दुष्कर तपश्चरण करता हुआ केवल परोपकार करने ही में मन रखकर मृत्युवश हो प्राणत देवलोक में उन्नीस सागरोपम की आयुष्य से देवता हुआ। उतना समय पूरा कर वहां च्यवन होकर वह जंबूद्वीपान्तर्गत ऐरवत क्षेत्र के गजपुर नगर में हरिनंदि नामक परम श्रावक श्रेष्ठि के घर उसकी लक्ष्मीवती नामक स्त्री की कुक्षि से वीरदेव नामक पुत्र हुआ, उसने श्रीमानभंग नामक श्रेष्ठ गुरु से श्रावक व्रत लिया।

धनदेव भी उस समय उत्कृष्ट विष के वेग से मरकर नौ सागरोपम की आयुष्य से पंकप्रभा नामक नारकी में उत्पन्न हुआ। वहां से निकलकर सर्प हुआ। वह वन में लगी हुई भयंकर अग्नि में सर्वांग से जलकर उसी नारकी में लगभग दस सागरोपम की आयुष्य से नारकपन में उत्पन्न हुआ।

वहां से तिर्यंच भव में भ्रमण करके वह उक्त गजपुर में इन्द्रनाग श्रेष्ठि की नंदिमती भार्या के उदर से द्रोणक नामक पुत्र हुआ। वहां भी वे पूर्व भव की प्रीति के योग से मिलकर एक बाजार में व्यापार करने लगे। उसमें उनने बहुत द्रव्य बढ़ाया। तब पापी द्रोणक विचारने लगा कि—मेरे इस भागीदार को किस प्रकार मार डालना चाहिये ?

हां एक उपाय है, वह यह है कि आकाश को स्पर्श करे ऐसा ऊंचा महल बंधवाना। उसके शिखर पर लोहे के खीलों से जड़ा हुआ झरोखा बनवाना। पश्चात् सह कुटुम्ब वीरदेव को भोजन करने के लिये बुलाना। पश्चात् उसको उक्त झरोखा बताना, ताकि वह उसे रमणीय जान स्वयं उस पर चढ़कर बैठ जायगा उसी समय वह खड़खड़ करता हुआ वहां से गिरेगा व तुरन्त मर जावेगा। ताकि निर्विवाद यह संपूर्ण द्रव्य मेरा हो

जायगा व लोगों में भी किसी प्रकार बाधा उपस्थित न होगी यह सोचकर उसने वैसा ही किया। पश्चात् भोजन करके दोनों जने महल के शिखर पर चढ़े। द्रोणक मूल ही से बुद्धि रहित था। साथ ही इस वक्त उसका मन अनेक संकल्प विकल्प से घिरा हुआ था। जिससे वह मित्र को झरोखे की ओर आने के लिये कहता हुआ स्वयं अकेला ही वहां चढ़ गया साथ ही झरोखा टूट गया ताकि वह नीचे गिरकर मर गया। तब वीरदेव उसे गिरता देख, मुंह से हाहाकार करता हुआ झटपट वहां से नीचे उतर कर उसे देखने लगा तो वह उसे मरा हुआ दृष्टि में आया। तो उसने हे मित्र! हे मित्रवत्सल, हे छल दूषण रहित! हे नीति-मार्ग के बताने वाले! इत्यादि नाना प्रकार का विलाप करके उसका मृत कार्य किया।

(पश्चात् वह सोचने लगा कि) यह जीवन पानी के बिन्दु के समान चंचल है। यौवन विद्युत् के समान चंचल है। अतएव कौन विवेकी पुरुष गृहवास में फंसा रहे? यह सोचकर सम्यक्त्व दाता गुरु से दीक्षा लेकर तीसरे ग्रैवेयक विमान में वह देदीप्यमान देवता हुआ।

तदनंतर इस जम्बूद्वीप में महाविदेह क्षेत्र में इन्द्र का शरीर जैसे तत्काल वज्र को धारण करता है, तथा सहस्र नेत्र युक्त है वैसे ही सजकर तैयार किये हुए वज्रमणि (हीरों) को धारण करने वाला तथा सहस्रों आम्र वृक्षों से सुशोभित चंपावास नामक श्रेष्ठ नगर है। वहां कल्याण साधन में सदैव मन रखने वाला माणिभद्र नामक श्रेष्ठि था। उसकी जिनधर्म पर पूर्ण प्रीतिवान् हरिमती नामक प्रिया थी। उनके घर उक्त वीरदेव का जीव तीसरे ग्रैवेयक विमान से च्यवकर पूर्णभद्र नामक उनका पुत्र हुआ। उसने प्रथम समय ही में प्रथम ही शब्द उच्चारण

करते 'अमर' यह शब्द उच्चारण किया जिससे उसका नाम अमर रक्खा गया।

इधर द्रोणक मरकर धूमप्रभा में बारह सागरोपम के आयुष्य से नारक हुआ। पश्चात् स्वयंभूरमण समुद्र में मत्स्य होकर पुनः उसी नारकी में गया। तदनन्तर कितनेक भव भ्रमण करके उसी नगर में नन्दावर्त्त नामक श्रेष्ठी की श्रीनन्दा नाम्नी स्त्री के उदर से नन्दयंती नाम की पुत्री हुई।

भवितव्यता वश उक्त नन्दयंती का पूर्णभद्र से पाणिग्रहण किया। वह पूर्व कर्म वश पति को वंचन करने में तत्पर रहने लगी। उसके सेवकों ने यह बात जानकर पूर्णभद्र को कहा कि- हे स्वामिन्! आपकी स्त्री असत्य उत्तर और कूटकपट की खानि के समान है, किन्तु उसने यह बात न मानी।

किसी समय नन्दयती ने दो बहुमूल्य कुंडल छिपा कर आकुल हो पति से कहने लगी कि- कुंडल कहीं गिर गये। पूर्णभद्र ने स्नेह वश उसे पुनः नये कुंडल बनवा दिये, इस तरह वह हरेक आभूषण छिपाती गई व पूर्णभद्र नये २ बनवा कर देता रहा।

एक दिन उसने स्नान करते समय अपने हाथ की रत्न-जड़ित अंगूठी उसे दी, जब संध्या को वापस मांगी तो वह बोली कि- वह तो मेरे हाथ में से कहीं गिर पड़ी। तब पूर्णभद्र अति आतुर हो हर जगह उसकी शोध करने लगा। इतने में अपनी स्त्री के संदूक में जितनी वस्तुएँ गुम हो गई, कहने में आई थीं वे सब यथावत् पड़ीं देखीं। तब उक्त सन्दूक हाथ में ले वह मन में तर्क करके विचार करने लगा कि- ये कुंडलादिक आभूषण क्या उसने गये हुए पुनः शोधकर इसमें रखे होंगे कि मूल ही से छिपा रखे होंगे?

इतने ही में नंदयती वहां आ पहुँची, जिससे पूर्णभद्र वहां से तुरन्त बाहर निकल गया। तब वह विचारने लगी कि–इसने मुझे निश्चयतः जान ली है। इसलिये यह स्वजन सम्बन्धियों में मुझे प्रकट न करे, उसके पहिले ही शीघ्र इसको अमुक वस्तुएँ एकत्र कर कामण करके मार डालूं। यह विचार कर उसने अपने हाथ से अनेक प्राण नाशक वस्तुएँ एकत्रित कर अंधेरे में एक स्थान पर रखने गई, इतने ही में काले नाग ने उसको डसी।

उसी क्षण वह धम से भूमि पर गिरी, जिसे सुन सेवक लोग वहां आ हाहाकार करने लगे, जिससे पूर्णभद्र भी वहां आ पहुँचा और उसने होशियार गारुड़ियों को बुलवाया। तो भी सबके देखते ही देखते वह पापिनी क्षण भर में मृत्यु वश हो छठी नारकी में गई, और भविष्य में अनंतों भव भटकेगी।

उसे मरी देख कर पूर्णभद्र को वहुत शोक हुआ जिससे उसका मृत कार्य कर, मन में वैराग्य ला उसने दीक्षा ग्रहण कर इन्द्रिय जय करना शुरू किया। वह शुक्ल ध्यानरूप अग्नि से सकल कर्मरूप इंधन को जला, पाप रहित होकर लोकोत्तर मुक्तिपुरी को प्राप्त हुआ।

विशेष निर्वेद पाने के लिये यहां आगे पीछे के भवों का वर्णन किया गया है, किन्तु यहां अशठता रूप गुण में मुख्य कार्य तो चक्रदेव ही का है।

इस प्रकार प्रत्येक भव में निष्कपट भाव रखने वाले चक्रदेव को कैसे मनोहर फल प्राप्त हुए, सो बराबर सुनकर हे भव्य जनों! तुम संतोष धारण करके किसी भी प्रकार परवंचन में तत्पर न होओ।

॥ इति चक्रदेव चरित्र समाप्त ॥

अशठता रूप सातवां गुण कहा। अब सुदाक्षिण्यता रूप आठवें गुण का वर्णन करते हैं—

उवयरइ सुदक्खिन्नो परेसिमुज्झियसकज्जवावारो ।
तो होइ गज्झवक्को-णुवत्तणीओ य सव्वस्स ॥ १५ ॥

मूल का अर्थ – सुदाक्षिण्य गुण वाला अपना कामकाज छोड़ परोपकार करता रहता है, जिससे उसकी बात सभी मानते हैं तथा सब उसके अनुगामी हो जाते हैं ।

टीका का अर्थ –सुदाक्षिण्य याने उत्तम दाक्षिण्य गुण युक्त, अभ्यर्थना करते उपकार करता है याने उपकारी होकर चलता है ।

सुदाक्षिण्य यह कहने का क्या अर्थ ? उसका अर्थ यह है कि– जो परलोक में उपकार करने वाला प्रयोजन हो तो उसी में लालच रखना, परन्तु पाप के हेतु में लालच न रखना, इसी से 'सु' शब्द द्वारा दाक्षिण्य को विभूषित किया है ।

(उपकार किसका करे सो कहते हैं) पर याने दूसरों का किस प्रकार सो कहते हैं: स्वकार्य व्यापार छोड़कर याने कि अपने प्रयोजन की प्रवृत्ति छोड़कर भी (परोपकार करे) उस कारण से वह ग्राह्यवाक्य याने जिसकी आज्ञा का कोई उल्लंघन न करे ऐसा होता है, तथा अनुवर्त्तनीय रहता है याने सर्व धार्मिक जनों को उसकी चेष्टा अच्छी लगती है, कारण कि– धार्मिक लोग उसके दाक्षिण्य गुण से आकर्षित होकर इच्छा न होते हुए भी धर्म का पालन करते हैं। क्षुल्लक कुमार के समान ।

—❀ क्षुल्लककुमार की कथा ❀—

जैसे शिवपुर मुक्त (मोक्ष पाये हुए पुरुषों) का आधार है, वैसे ही मुक्त (मोती) का आधार रूप साकेत नामक नगर था, वहां शत्रु रूपी हाथियों में पुंडरिक समान पुंडरिक नामक राजा था उसका कंडरिक नामक छोटा भाई युवराज था और उसकी सुशील व लज्जालु यशोभद्रा नामक भार्या थी। उसे किसी स्थान में विश्रामार्थ बैठे हुए पुंडरिक राजा ने देखी, जिससे वह महादेव के समान कामबाणों से आहत होकर चित्त में सोचने लगा कि- इस मृगलोचनी को ग्रहण करना चाहिये। इसलिए इसे (किसी प्रकार) लुभाना चाहिये, कारण कि- मांस पाश में बंधा हुआ मनुष्य कार्याकार्य सब कुछ करता है। यह विचार कर उसने उसको तांबूलादि भेजे। यशोभद्रा ने भी अदुष्टभावा होने से अपने जेठ का प्रसाद मानकर सब स्वीकार कर लिया।

एक दिन राजा ने दूती भेजी, तब उसने उसे निषेध कर दिया। जब वह अति आग्रह करने लगी, तब सरल हृदया यशोभद्रा उसे कहने लगी कि- हे पापिनी! क्या वह राजा अपने छोटे भाई से भी लज्जित नहीं होता कि जिससे निर्लज्ज होकर तेरे मुख से मुझे ऐसा संदेशा भेजता है?

ऐसा कह कर उसने उक्त दूती को धक्का देकर बाहर निकाल दिया। उसने राजा से आकर सब बात कही, तब राजा विचार करने लगा कि- जहां तक छोटा भाई जीवित है तब तक यशोभद्रा मुझे स्वीकारेगी नहीं। जिससे उस दुष्ट अज्ञान से अंधे बने हुए राजा ने गुप्त रीति से कोई प्रयोग करके अपने भाई को मरवा डाला।

तब यशोभद्रा विचार करने लगी कि- जिसने अपने छोटे भाई

को भी मरवा डाला वह अब मेरे शील को निश्चय से विगाड़ेगा। इसलिये मैं अब (किसी भी उपाय से) शील रक्षण करूं। यह विचार कर जिन वचन से रंगित यशोभद्रा आभरण साथ में लेकर साकेतपुर से झटपट एकाएक रवाना हुई।

वहां कोई वृद्ध वणिक बहुतसा माल लेकर श्रावस्ती नगरी की ओर जा रहा था। उससे मिली, उसने कहा कि मैं तेरी तेरे बाप के समान सम्हाल रक्खूंगा। तदनुसार वह उसके साथ २ कुशल क्षेम पूर्वक श्रावस्ती को आ पहुँची। वहां अंतरंग वैरियों से अपराजित अजितसेन सूरि की मद रहित कीर्तिमती नामक महत्तरिका आर्या थी। उसको नमन करके भद्रआशया यशोभद्रा धर्मकथा सुनने लगी। पश्चात् अपना वृत्तान्त निवेदन करके उसने दीक्षा ग्रहण की।

यह गर्भवती थी यह उसे ज्ञात होते भी कदाचित् दीक्षा न दे इस विचार से उसने इस सम्बन्ध में महत्तरा को कुछ भी न कहा। काल क्रम से गर्भ के वृद्धि पाने पर महत्तरा उसे एकान्त में पूछने लगी। तब उसने उसे वास्तविक कारण बता दिया।

पश्चात् जब तक उसको प्रसूति हुई तब तक उसे छिपा कर रखा। बाद पुत्र जन्म होते, उसका नाम क्षुल्लककुमार रखा गया और किसी श्रावक के घर उसका लालन पालन हुआ।

तदनन्तर उसे योग्य समय पर शास्त्र विधि के अनुसार अजितसेन गुरु ने दीक्षित किया और यति जन को उचित सम्पूर्ण आचार सिखाया। क्रमशः क्षुल्लक मुनि अति रूपवान यौवन को प्राप्त कर विषयों से लुभाते हुए इन्द्रिय दमन में असमर्थ होगए। जिससे वे स्वाध्याय में मन्द होकर संयम का पालन करने में

असमर्थ हो गये तथा भग्न परिणामी हो कर अपनी मां को संयम छोड़ कर भाग जाने का उपाय पूछने लगे। जिसे सुन यशोभद्रा मानों अकस्मात वज्र से आहत हुई हो, उस तरह दुःखार्त होकर गद्गद् स्वर से कहने लगी कि- हे वत्स ! तूं ने यह क्या विचार किया है ?

जो मेरू चलायमान हो जावे, समुद्र सूख जावे, सर्व दिशाएँ फिर जावे तो भी सत्पुरुषों का वचन व्यर्थ नहीं होता। शरद ऋतु के चन्द्र की किरणों के समान स्वच्छ शील वाले प्राणी को मरना अच्छा है, परन्तु शील खंडन करना अच्छा नहीं। शत्रुओं के घर भिक्षा मांगकर जीना अच्छा, अथवा अग्नि में गिर जलकर देह त्यागना अच्छा, अथवा ऊँचे पर्वत के शिखर पर से झंपापात करना अच्छा, परन्तु पंडित जनों ने शील भंग करना अच्छा नहीं माना।

इस यौवन और आयुष्य को प्रचंड पवन से चलायमान होती हुई ध्वजा के समान चपल जानकर हे वत्स ! तू अकार्य में मन रखकर मत ऊकता। हे वत्स ! इन्द्र की समृद्धि त्याग कर दासत्व की इच्छा कौन करता है ? अथवा चिंतामणि को छोड़कर कांच कौन ग्रहण करता है। हे पुत्र ! इन्द्रत्व, अहमिन्द्रत्व, महानरेन्द्रत्व तथा असुरेन्द्रत्व प्राप्त होना सुलभ है, परन्तु निर्दोष चारित्र मिलना दुर्लभ है। इत्यादिक माता के अनेक प्रकार से समझाने पर भी वह स्थिर नहीं हुआ, तब अति करुणामयी माता उसे इस प्रकार कहने लगी।

हे पुत्र ! जो तूं मेरे वश में होवे तो मेरे आग्रह से इस गुरुकुलवास में बारह वर्ष अभी और रह तब दाक्षिण्यरूप जल के जलधि समान क्षुल्लक कुमार ने अपने मन में विषय

भोग की इच्छा स्फुरित होने से भग्न परिणाम होते भी वह बात स्वीकार की।

बारह वर्ष सम्पूर्ण हो जाने के अनन्तर पुनः उसने माता को पूछा, तब वह बोली कि—हे वत्स ! तूं अपनी माता समान मेरी गुरुआनी को पूछ। तदनुसार उसने गुरुआनी को पूछा तो उस महत्तरा ने भी और बारह वर्ष रहने की प्रार्थना करके उसे रोक रखा। इसी प्रकार तीसरी बार आचार्य ने उसे बारह वर्ष रोक रखा।

चौथी बार उपाध्याय ने बारह वर्ष रोका। इस प्रकार अड़तालीस वर्ष बीत जाने पर भी उसका मन चारित्र में लेश मात्र भी धैर्यवान न हुआ। तब सब सोचने लगे कि- मोह के विष को धिक्कार है कि जिसके वश हो जीव किसी भी प्रकार अपने को चैतन्य नहीं कर सकते। यह विचार कर आचार्यादि ने उसकी उपेक्षा की।

तब उसके पिता के नाम की अंगूठी और कम्बल रत्न जो पहिले से रख छोड़े थे वे माता ने उसे देकर कहा कि- हे वत्स ! यहां से और कहीं भी न जाकर सीधा साकेतपुर में जाना, वहां पुंडरिक नामक राजा है, वह तेरा बड़ा बाप (ताऊ) होता है। उसे तूं यह तेरे बाप के नाम की मुद्रा तथा कंबलरत्न बताना ताकि वह तुझे बराबर पहचान कर राज्य का भाग देगा। यह बात स्वीकार कर तथा गुरु को नमन करके वह वहां से निकला और लक्ष्मी के कुलगृह समान साकेतपुर में आ पहुँचा।

[illegible] में [illegible] हो रहा था। उसे देखने

वहां गया। राजा से मिलना दूसरे दिन पर रखकर वह वहीं बैठकर नवीन नवीन रचनायुक्त नृत्य देखने लगा।

वहां सम्पूर्ण रात्रि भर नृत्य करके थकी हुई नटी प्रातःकाल में जरा झोखे खाने लगी। तब उसकी माता विचारने लगी कि- अभी तक अनेक हाव भाव द्वारा जमाये हुए रंग का कदाचित् भंग हो जावेगा, जिससे वह गीत गाने के मिष से उसे निम्नानुसार प्रतिबोध करने लगी।

अच्छा गाया, अच्छा बजाया, अच्छा नृत्य किया, इसलिये हे श्याम सुन्दरी! सारी रात बिताकर अब स्वप्न के अन्त में गफलत मत कर। यह सुनकर क्षुल्लककुमार ने उसे रत्न-कम्बल दिया। राजपुत्र यशोभद्र ने अपने कुण्डल उतार कर दिये। सार्थवाह की स्त्री श्रीकान्ता ने अपना देदीप्यमान हार उतार कर दे दिया। जयसंधि नामक सचिव ने दमकते हुए रत्न वाला अपना कटक दे दिया। कर्णपाल नामक महावत ने अंकुश रत्न दिया। इत्यादि सब लक्ष मूल्य की वस्तुएँ उन्होंने भेंट में दी। इतने ही में सूर्योदय हुआ।

अब भाव जानने के लिये राजा ने पहिले क्षुल्लक कुमार से कहा कि तूने इतना भारी दान किसलिये दिया? तब उसने आरंभ से अपना सम्पूर्ण वृत्तांत कह सुनाया और कहा कि यावत् राज्य लेने के लिये तैयार होकर तेरे पास आ खड़ा हूँ, परन्तु यह गीत सुनकर मैं प्रतिबुद्ध हुआ हूँ, और विषय की इच्छा से अलग हो, प्रव्रज्या का पालन करने के लिये दृढ़ निश्चयवान् हुआ हूँ। इसीसे इसे उपकारी जानकर मैंने रत्न-कम्बल दिया है। तब उसे अपने भाई का पुत्र जानकर राजा संतुष्ट हो कहने लगा कि—

हे अति पवित्र वत्स! यह उत्तम विषयसुख युक्त राज्य

ग्रहण कर। शरीर को क्लेश देने वाले व्रतों का तुझे क्या काम है?

क्षुल्लक बोला कि- हे नरवर! चिरकाल प्राप्त अपने संयम को अन्त में राज्य के लिये कौन निष्फल करे।

पश्चात् अपने पुत्र आदि को राजा ने कहा कि तुमने जो दान दिया उसका कारण कहो। तब राजपुत्र बोला- हे पिताजी! मैं आपको मारकर यह राज्य लेना चाहता था, किन्तु यह गीत सुन कर राज्य व विषयों से विरक्त हुआ हूँ।

श्रीकान्ता बोली कि- हे नरवर! मेरे पति को विदेश गये बारह वर्ष व्यतीत हो गये हैं, जिससे मैं विचारने लगी कि अब दूसरा पति करूं, क्योंकि प्रवासी पति की आशा से व्यर्थ क्लेश पाती हूँ, परन्तु यह गीत सुनने से अब स्थिर चित्त हो गई हूँ।

स्पष्ट सत्य भाषी जयसंधि बोला कि, हे देव! मैं स्नेह प्रीति बताने वाले अन्य राजाओं के साथ मिल जाऊं कि क्या करूं? इस प्रकार डगमग हो रहा था, परन्तु अभी यह गीत श्रवण कर तुम पर दृढ़ भक्तिवान् हो गया हूँ।

महावत बोला कि मुझे भी सरहद पर के दुष्ट राजा कहते थे कि पट्टहस्ती को लाकर हमें सौंप अथवा उसे मार डाल। जिससे मैं बहुत काल से अस्थिर चित्त हो रहा था, परन्तु अभी उक्त गीत सुनकर स्वामी के साथ दगा करने से विमुख हुआ हूँ।

इस प्रकार उनके अभिप्राय जानकर प्रसन्न हो राजा ने उन्हें आज्ञा दी कि-अब जैसा तुम्हें उचित जान पड़े वैसा करो।

इस प्रकार का अकार्य करके अपन कितनेक जीने वाले हैं? यह कह कर वे वैराग्य प्राप्त कर क्षुल्लक कुमार से प्रव्रजित हुए।

तदनन्तर उनको साथ में ले वह महात्मा अपने गुरु के पास आया। गुरुने उस दाक्षिण्य सागर कुमार की प्रशंसा की। पश्चात् उसने संपूर्ण आगम सीख, निर्मल व्रत पालन कर मोक्ष प्राप्त किया।

इस प्रकार दाक्षिण्यवान् क्षुल्लककुमार को प्राप्त हुआ फल स्पष्टतः सुनकर सदाचार की वृद्धि के हेतु हे भव्यो! तुम प्रयत्न करो।

इति क्षुल्लककुमार कथा समाप्त

सुदाक्षिण्य रूप आठवां गुण कहा। अब लज्जालुत्व रूप नौवें गुण का वर्णन करते हैं:—

लज्जालुओ अकज्जं वज्जइ दूरेण जेण तणुयंपि।
आयरइ सयायारं न मुयइ अंगीकयं कहवि ॥ १६ ॥

मूल का अर्थ – लज्जालु पुरुष छोटे से छोटे अकार्य को भी दूर ही से परिवर्जित करते हैं, इससे वे सदाचार का आचरण करते हैं और स्वीकार की हुई बात को किसी भी भांति नहीं त्यागते हैं।

टीका का अर्थ—लज्जालु याने लज्जावान्—अकार्य याने कुत्सित कार्य को (यहां नञ् कुत्सनार्थ है) वर्जता है याने परिहरता है—दूर से याने दूर रहकर—जिस कारण से-उस कारण से वह धर्म का अधिकारी होता है, ऐसा संबन्ध जोड़ना, तनु याने थोड़े अकार्य को भी त्यागता है तो अधिक की बात ही क्या करना।

तथाचोक्तं—

अवि गिरिवर भरदुरंतेण, दुक्खभारेण जंति पंचत्तं,
न उणो कुणंति कम्मं, सप्पुरिसा जं न कायव्वं ॥ (इति)

कहा भी है कि:—पर्वत समान भारी दुःख से मृत्यु को प्राप्त हों, तो भी सतपुरुष जो न करने का काम हो उसे नहीं करते। तथा सदाचार याने सुव्यवहार का आचरण करते हैं—याने पालन करते हैं—क्योंकि उसमें कोई शरम नहीं लगती। तथा अंगीकृत याने स्वीकार की हुई प्रतिज्ञा विशेष को वैसा पुरुष किसी भी प्रकार याने कि स्नेह अथवा बलाभियोग आदि किसी भी प्रकार से छोड़ता नहीं याने त्याग करता नहीं, कारण कि आरंभ किये हुए कार्य को छोड़ना यह लज्जा का कारण है।

उक्तं च—दूरे ता अन्नजणो, अंगे च्चिय जाइं पंच भूयाइं।
तेसिं पि य लज्जिज्जइ, पारद्धं परिहरंतेहिं ॥

कहा है कि:—शेष लोग तो दूर रहे परन्तु अपने अंग में जो पांच भूत हैं उनसे भी जो आरंभ किया हुआ कार्य छोड़ता है उसे लज्जित होना पड़ता है।

सुकुल में उत्पन्न हुआ पुरुष ऐसा होता है—विजयकुमार के समान।

❀ विजयकुमार की कथा ❀

सुविशाल किलेवाली और विस्तार तथा समृद्धि इन दो प्रकार से महान् विशाला नामक नगरी थी। वहां जयतुंग नामक राजा था, उसकी चन्द्रवती नामक स्त्री थी। उनको लज्जा रूप नदियों का नदनाथ (समुद्र) और प्रताप से सूर्य को जीतने वाला तथा परोपकार करने में तत्पर विजय नामक पुत्र था।

एक समय राजमहल में स्थित उस कुमार को कोई योगी हाथ जोड़, प्रणाम करके इस प्रकार विनय करने लगा कि– हे कुमार! मुझे आज कृष्ण अष्टमी की रात्रि को भैरव स्मशान मंत्र साधना है, इसलिये तूं उत्तर साधक हो। कुमार उसके अनुरोध से उक्त बात स्वीकार कर हाथ में तलवार ले उक्त स्थान पर पहुँचा।

पश्चात् योगी ने वहां पवित्र होकर कुण्ड में अग्नि जलाई और उसमें लाल कनेर तथा गुग्गुल आदि होमने लगा। उसने कुमार को कहा कि यहां सहज में अनेक उपसर्ग होंगे उसमें तूने भयभीत न हो, हिम्मत रख कर क्षण भर भी गफलत न करना। तत्पश्चात् वह अपनी नाक पर दृष्टि लगाकर मंत्र जपने लगा, व कुमार भी उसके समीप हाथ में तलवार लेकर खड़ा रहा।

इतने में एक उत्तम विद्यावान विद्याधर वहां आया। वह अपने कपाल पर हाथ जोड़कर कुमार को कहने लगा– हे कुमार! तूं उत्तम सत्त्ववान है। तूं शरणागत को शरण करने लायक है तथा अर्थियों के मनोवांछित पूर्ण करने में तूं कल्पवृक्ष समान है। अतएव मैं जब तक मेरे शत्रु गर्विष्ट विद्याधर को जीतकर यहाँ आऊं, तब तक इस मेरी स्त्री को तूं पुत्री के समान संभालना।

कुमार होशियार होते हुए भी किंकर्तव्य विमूढ़ हो गया। इतने में तो वह विद्याधर शीघ्र वहां से उड़कर अदृश्य हो गया। इतने में तो वहां हाथ में करवत धारण किये हुए होने से भयंकर लगता, तलवार व स्याही के समान कृष्ण वर्ण वाला, गुंजे के समान रक्त नेत्र वाला, वैसे ही अट्टहास से फूटते ब्रह्मांड के प्रचंड आवाज को भी जीतने वाला और "मारो, मारो, मारो" इस प्रकार चिल्लाता हुआ एक राक्षस उठा।

वह योगी को कहने लगा कि– रे अनार्य और अकार्यरत!

आज भी मेरी पूजा किये बिना तूं यह काम करता है, इसलिये हे धृष्ट ! आज तेरा नाश होने वाला है।

मेरे मुख में से निकलती हुई अग्नि तुझे और इस कुमार को भी तृण के समान क्षण भर में जला देगी, कारण कि इसने भी कुसंग किया है। उसके वचन सुनने से क्रोधित हो कुमार कहने लगा कि अरे ! तूं ही आज मौत के मुह में पड़ने वाला है। जब तक मैं पास खड़ा हूँ तब तक इन्द्र भी इसे विघ्न नहीं कर सकता। यह कहता हुआ कुमार तुरत उस राक्षस के पास आ पहुँचा। अब वे दोनों क्रोध से भ्रकुटी सिकोड़कर और ओष्ठ दाब कर एक दूसरे पर प्रहार करने लगे तथा कठोर वचनों से तर्जना करने लगे।

इस प्रकार युद्ध करते हुए वे दूर गये। इतने में नवीन रजनीचर (चन्द्र) के समान वह कुटिल रजनीचर (राक्षस) क्षण भर में अदृश्य हो गया।

तब कुमार पीछा आकर देखने लगा तो योगी को मरा हुआ देखा जिससे वह महा दुःखित होकर विद्याधरी को देखने लगा, तो उसे भी नहीं देखा। जिससे वह लुट गया हो उस भांति दीन क्षीण मुख हो अपनी निन्दा करने लगा कि हाय ! मैं शरणागत की भी रक्षा नहीं कर सका।

इतने में उक्त विद्याधर शीघ्र वहां आकर कुमार को कहने लगा कि तेरे प्रभाव से मैंने अपने दक्ष शत्रु को भी मार डाला है। अतएव हे परनारी सहोदर, शरणागत की रक्षा करने में वज्र पिंजर समान सुधीर ! निर्मल कार्य करने वाले कुमार ! मेरी प्राण-प्रिया मुझे दे। परकार्य साधन में तत्पर इस जीव-लोक में तेरे समान दूसरा कोई नहीं है तथा तेरे जन्म से जयतुंग राजा का वंश शोभित हुआ है।

देवता बोला कि- वीरपुर नगर में जिनदास नामक उत्तम श्रेष्ठी है। वह उसके गुरु-जन से शिक्षा पाया हुआ है और अति धर्मिष्ठ तथा निर्मल दृष्टि वाला है। उसका अति वल्लभ धन नामक एक मिथ्यादृष्टि मित्र है। उसने एक समय विषय सुख छोड़कर तापस की दीक्षा ली।

तब जिनदास विचारने लगा कि- ये क्षुद्र ज्ञानी भी जो इस प्रकार पाप से डरकर विष के समान विषयों का त्याग करते हैं तो भव के स्वरूप को समझने वाले और जिन-प्रवचन सुनने से जानने योग्य वस्तु को जानने वाले निर्मल विवेकवान हमारे सदृश उन विषयों को क्यों न त्यागे ?

यह सोचकर विनय पूर्वक विनयंधर गुरु से व्रत ले, अनशन कर, मृत्यु के अनन्तर वह सौधर्म-देवलोक में देवता हुआ। उसने अवधिज्ञान से अपने मित्र को व्यंतर हुआ देखा, जिससे उसको प्रतिबोध देने के लिये अपनी समृद्धि उसे बताई।

तब वह व्यन्तर सोचने लगा कि अहो ! मनुष्य जन्म पाकर उस समय मैंने जो जिन-धर्म आराधन किया होता तो मैं कैसा सुखी होता।

अरे जीव ! तूं ने कल्पवृक्ष के समान गुणवान गुरु की सेवा की होती तो भयंकर दारिद्र के समान यह नीच देवत्व नहीं पाता।

अरे जीव ! जो तूने जिन प्रवचन रूप अमृत का पान किया होता तो महान असर्परूप विषवाली यह परवशता नहीं पाता।

इत्यादि नाना प्रकार से शोक करके अपने मित्र देवता के वचन से उस भाग्यशाली व्यंतर ने मोक्ष रूप तरु के बीज समान सम्यक्त्व को भली भांति प्राप्त किया।

पश्चात् उसने अपनी दस हजार वर्ष की स्थिति जानकर उस देवता से कहा कि—हे परकार्यरत देव ! मैं मनुष्य होउं तो वहां भी मुझे तूंने प्रतिबोध देना।

देव ने यह बात स्वीकार की। पश्चात् वह व्यंतर वहां से च्यवन करके तूं हुआ है, यद्यपि तूं एकान्त शूरवीर है, तथापि अभी तक धर्म का नाम तक नहीं जानता। इसीसे तुझे प्रतिबोध करने के लिये मैंने यह भारी माया की है, कारण कि—मानी पुरुष पीछे पड़े बिना प्रतिबोध नहीं पाते।

यह सुनने के साथ ही उसे जाति-स्मरण होकर अपना चरित्र स्फुटतः भासमान हुआ। जिससे वह कुमार उक्त देव से विनंती करने लगा कि—तूं ने मुझे भलीभांति बोधित किया है। तूं ही मेरा मित्र है। तूं ही मेरा बन्धु है। तूं ही सदैव मेरा गुरु हैं। यह कह उक्त देव का दिया साधु वेष ग्रहण कर व्रत अंगीकार किये।

पश्चात् कुमार कायोत्सर्ग में स्थित हुआ, और देवता उसे खमाकर व नमकर अपने स्थान को गया इतने में सूर्योदय हुआ।

उसी समय जयतुंग राजा भी कुमार को ढूंढता हुआ वहां आ पहुँचा। वह पुत्र को (साधु हुआ) देखकर उदास हो शोक से गद्गद् हो कहने लगा कि—हे स्नेहवत्सल वत्स ! तूं ने इस प्रकार हमको क्यों छला ? हे निर्मल यशस्वी पुत्र ! अभी भी तूं राज्य-धुरी धारण करने के लिये धवलत्व धारण कर। वृद्धावस्था को उचित इस व्रत का तूं त्याग कर। हे शक्तिशाली व न्यायी कुमार ! तेरे वचनामृत का इस जन को पान करा।

इस प्रकार बोलते हुए उस तीव्र मोहवान् राजा को बोध देने के लिये कुमार मुनि कायोत्सर्ग छोड़कर इस प्रकार कहने

लगे कि- हे नरेन्द्र ! यह राज्यलक्ष्मी विद्युत् की भांति चपल है। साथ ही वह अभिमान मात्र सुख देने वाली है तथा स्वर्ग व मोक्ष मार्ग में विघ्न रूप है। तथा वह नरक के अति दुःसह दुःख की कारण है व धर्मरूप वृक्ष को जलाने के लिये अग्नि ज्वाला समान है। इसलिये ऐसी राज्यलक्ष्मी द्वारा कौन महामति पुरुष अपने को विडंबित करे।

पिता की उपार्जन की हुई लक्ष्मी बहिन होती है। स्वयं पैदा की हुई पुत्री मानी जाती है। पर लक्ष्मी पर-स्त्री मानी जाती है। अतएव उसे लज्जावान् पुरुष किस प्रकार भोगें।

यह जीवन पवन से हीलते हुए कमल के अग्र भाग पर स्थिर पानी की बिन्दु के समान चपल है। अतएव "कल मैं धर्म करूंगा" ऐसा कौन चतुर व्यक्ति कहता है। इसलिये जिसकी मौत के साथ मित्रता हो अथवा जो उससे भाग जाने में समर्थ हो या जिसको यह विश्वास हो कि "मैं नहीं मरूंगा" वही "कल करूंगा" ऐसी इच्छा करे तथा जो जो रात्रि व्यतीत होती है वह पुनः नहीं लौटती। इसलिये अधर्मी की रात्रियां व्यर्थ जाती हैं। तथा कौन जानता है कि कब धर्म करने की सामग्री मिलेगी ? इसलिये रंक को जब धन मिले तभी काम का ऐसा विचार करके जब व्रत प्राप्त हो तभी पालना चाहिये।

यह सुनकर राजा का मोह नष्ट हुआ, जिससे उस को संवेग व विवेक प्राप्त हुआ, जिससे उसने कुमार मुनि से गृहि-धर्म अंगीकार किया।

पश्चात् वह भक्ति पूर्वक मुनि को नमन कर तथा खमाकर स्वस्थान को गया। तदनंतर दृढ़प्रतिज्ञ सदैव सदाचार में रहकर व्रत पालने वाला वह साधु लज्जा तथा तप आदि से त्रिभुवन

के जीवों को हितकारी हो, मरकर जहां जिनदास देवता हुआ था वहीं देवता हुआ। वहां से वे दोनों जने च्यवन होने पर महाविदेह क्षेत्र में तीर्थंकर के समीप निर्मल चारित्र ग्रहण कर मुक्ति पावेंगे।

अकार्य को त्यागने वाले और सुकार्य को करने वाले, लज्जालु राजकुमार को प्राप्त उत्तम फल सुनकर हे भव्य जनों! तुम भी एकचित्त से उसे आश्रय करो।

❀ विजयकुमार की कथा समाप्त ❀

इस प्रकार लज्जालुत्व रूप नौवें गुण का वर्णन किया। अब दयालुत्व रूप दशवें गुण को प्रकट करने के लिये कहते हैं।

मूलं धम्मस्स दया तयणुगयं सव्वमेवणुट्ठाणं।
सिद्धं जिणिंदसमए मग्गिज्जइ तेणिह दयालू ॥१७॥

मूल का अर्थ--दया धर्म का मूल है और दया के अनुकूल ही सम्पूर्ण अनुष्ठान जिनेन्द्र के सिद्धान्त में कहे हुए हैं-इसलिये इस स्थान में दयालुत्व मांगा है याने गवेषित किया है।

टीका का अर्थ- दया याने प्राणी की रक्षा। प्रथम कहे हुए अर्थ वाले धर्म का मूल याने आदि कारण है। जिसके लिये श्री आचारांग सूत्र में कहा है कि--मैं कहता हूं कि जो तीर्थंकर भगवान हो गये हैं, अभी वर्तमान हैं और भविष्य काल में होवेंगे, वे सब इस प्रकार कहते हैं, बोलते हैं जानते हैं तथा वर्णन करते हैं कि "सर्व प्राण, सर्व भूत, सर्व जीव और सर्व

सत्व को नष्ट न करना। उन पर हुकूमत नहीं चलाना। उनको आधीन नहीं करना। उनको मार नहीं डालना तथा उनको हैरान नहीं करना," ऐसा पवित्र और नित्य धर्म दुःखी लोक को जान-दुःख ज्ञाता भगवान ने बताया है इत्यादि।

इसी से कहा है कि—

अहिंसैव मता मुख्या, स्वर्गमोक्षप्रसाधनी।
अस्याः संरक्षणार्थं च, न्याय्यं सत्यादिपालनं॥

मुख्यतः अहिंसा ही स्वर्ग व मोक्ष की दाता मानी हुई है और इसकी रक्षा ही के हेतु सत्यादिक का पालन न्याययुक्त माना जाता है। इसीसे उससे मिला हुआ अर्थात् जीव दया के साथ में रहा हुआ सब याने कि- विहार, आहार, तप तथा वैयावृत्य आदि सदनुष्ठान जिनेन्द्र समय में याने सर्वज्ञ प्रणीत सिद्धान्त में सिद्ध याने प्रसिद्ध है।

तथा श्री शय्यंभवसूरि ने भी कहा है कि:—

जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए।
जयं भुजंतो भासंतो पावं कम्मं न बंधइ॥ त्ति

यत्न से चलना, यत्न से खड़ा रहना, यत्न से बैठना व यत्न से सोना वैसे ही यत्न से खाना और यत्न से बोलना ताकि पाप कर्म का संचय न हो।

औरों ने भी कहा है कि -

न सा दीक्षा न सा भिक्षा न तद्दानं न तत्तपः।
न तज् ज्ञानं न तद् ध्यानं, दया यत्र न विद्यते॥

ऐसी कोई दीक्षा, भिक्षा, दान, तप, ज्ञान अथवा ध्यान नहीं कि जिसमें दया न हो। इसी कारण से यहां याने धर्म के अधिकार में दयालु याने दया के स्वभाव वाला पुरुष मांगा है याने गवेषित किया है। कारण कि वैसा पुरुष यशोधर के जीव सुरेन्द्रदत्त महाराजा की तरह अल्प मात्र जीव-हिंसा के दारुण-विपाक जान कर जीव-हिंसा में प्रवर्तित नहीं होता।

यशोधरा का चरित्र इस प्रकार है

दया धर्म ही को प्रगट करने वाला, हिंसा के दारुण फल को बताने वाला, वैराग्य रस से भरपूर यशोधरा का कुछ चरित्र कहता हूँ।

उज्जयिनी नामक एक नगरी थी। वहां के लोग निर्मल शीलवान होकर धनाढ्य होते हुए भी कभी पर-स्त्री की ओर न देखते थे। वहां अमर (देवता) के समान शुभ आशयवाला अमरचन्द्र नामक राजा था। उसकी उत्तम लावण्य से मनोहर यशोधरा नामक रानी थी। उनका सुरेन्द्रदत्त नामक पुत्र था। वह सुरेन्द्र जैसे विबुधों (देवों) को खुशी करता है वैसे विबुधों (पंडितों) को खुशी करता था। किन्तु सुरेन्द्र जैसे गोत्रभिद् (पर्वतों को तोड़ने वाला) तथा वज्रकर (हाथ में वज्र धारण करने वाला) है। वैसे वह गोत्रभिद् (कुटुम्ब में भेद पटकने वाला) अथवा वैरकर (शत्रुता करने वाला) न था। उसकी नयनावली नामक स्त्री थी वह अपने संगम से काम को जीवित करने वाली थी। शरदऋतु के चन्द्रमा समान मुखवाली थी था नीलोत्पल के समान नयन वाली थी।

एक दिन राज्य का भार पुत्र को सौंपकर पुण्यशाली

अमरचन्द्र राजा ने जिसमें उत्तम मन रखा जा सके ऐसा श्रमणत्व अंगीकृत किया।

अब सुरेन्द्रदत्त भी सूर्य जैसे महीधर (पर्वत) में अपनी किरणें लगाता है वैसे महीधरों (राजाओं) से कर वसूल करता, तथा सूर्य जैसे कमलों को प्रकट करता है वैसे वह कमला (लक्ष्मी) को प्रकट करता तथा रिपु-रूप अंधकार को नाश करता हुआ पृथ्वी रूप लोक को अति सुखी करने लगा।

अब एक दिन राजा की सारसिका नामक दासी ने पलित देखकर उसे कहा कि- धर्म का दूत आया है। तब राजा सर्व भावों के अस्थिरत्व साथ ही भव की तुच्छता तथा यौवन की चंचलता का चिंतवन करने लगा। वह विचारने लगा कि दिवस और रात्रि रूप घटमाला से लोक का आयुष्य रूप जल लेकर चन्द्र और सूर्य रूपी बैल काल रूप रहट को घुमाया करते हैं।

जीवन-रूप जल के पूर्ण होते ही शरीर रूपी पाक सूख जायगा। इसमें कोई भी उपाय न चलने पर भी लोग पाप करते रहते हैं। इसलिये इस तरंग के समान क्षणभंगुर, अतितुच्छ और नरकपुर में जाने को सीधा नाक समान राज्य - लक्ष्मी से मुझे क्या प्रयोजन है।

इसलिये गुण रत्न के कुलघर समान गुणधरकुमार को अपने राज्य पर स्थापन करके पूर्व-पुरुषों द्वारा आचरित श्रमणत्व अंगीकार करूं, ऐसा उसने विचार किया। जिससे राजा ने रानी को अपना अभिप्राय कहा, तो वह बोली कि- हे नाथ! आपकी जो मर्जि हो सो करिये, मैं उसमें विघ्न नहीं करती। किन्तु मैं भी आप पुत्र के साथ ही दीक्षा ग्रहण करूंगी, कारण कि- चन्द्र के बिना उसकी चन्द्रिका किस प्रकार रह सकती है?

तब राजा विचार करने लगा कि- अहो ! रानी को मुझ पर कैसा अटल प्रेम है और कैसा विरह का भय है? इतने में कोमल और गंभीर शब्द से दक्षिण हाथ से नमस्कार (सलाम) करते हुए काल निवेदक ने इस प्रकार कहा कि- जगतप्रसिद्ध उदय प्राप्त कर क्रमशः अपना प्रताप बढ़ाते हुए जगत को प्रकाशित कर अब दिननाथ (सूर्य) अस्त होते हैं।

यह सुन राजा विचार करने लगा कि- हाय, हाय ! यहां कोई भी नित्य सुखी नहीं, कारण कि सूर्य भी विवश हो इतनी दशा भोगता है। पश्चात् संध्या कृत्य कर क्षणभर सभा स्थान में बैठकर राजा नयनावली से विराजते रति-गृह में गया। वहां राजा को संसार स्वरूप का विचार करने में लग जाने के कारण विषय विमुख होने से निद्रा नहीं आई।

नयनावली ने जाना कि राजा को निद्रा आ गई है, अतएव वह अति कामातुर होने से किवाड़ खोलकर वास-गृह से बाहर निकली। राजा विचार करने लगा कि- इस कुसमय यह कैसे निकली होगी? हां समझा ! मेरे भावी विरह से डरकर निश्चय यह मरने को निकली होगी, अतएव जा कर मना करूं। जिससे राजा तलवार लेकर उसके पीछे जाने लगा। रानी ने महल के पहरेदार कुबड़े को जगाया।

पश्चात् वे दोनों प्रमत्त हुए। इतने में राजा क्रुद्ध होकर भयंकर तलवार का प्रहार करने को तैयार हुआ, कि यह विचार उत्पन्न हुआ।

अरे ! यह मेरी तलवार जो कि उद्‌भट रिपुओं के हाथियों के कुम्भस्थल को विदारण करने वाली है इसका ऐसे शील-हीन जनों पर किस प्रकार उपयोग करूं? अथवा मेरे निर्धारित अर्थ

के प्रतिकूल यह चिंता करने का मुझे क्या प्रयोजन है ? यह सोच कर वहां से वापस लौटकर उदास मन से राजा अपने शय्या-गृह में आया।

वहां शय्या में जाकर सोचने लगा कि- अहो ! स्त्री विना नाम की व्याधि है। विना भूमि की विषवल्ली है। विना भोजन की विशूचिका है। विना गुफा की व्याघ्री है। विना अग्नि की चुड़ैल है। विना वेदना की मूर्छा है। विना लोहे की बेड़ी है और विना कारण की मौत है। वह यह सोच ही रहा था कि इतने में धीरे-धीरे रानी वहां आ पहुँची, किन्तु राजा ने गांभीर्य गुण धारण करके उससे कुछ भी नहीं कहा।

इतने में सेवकों ने प्रभात के वाद्य बजाये और काल निवेदक पुरुष गंभीर शब्द से इस प्रकार बोला– इस भारी अंधकार रूप बाल के समूह को बिखेर कर परलोक में गये हुए सूर्य को भी जलांजलि देने के लिये रात्रि जाती है।

तब प्रातः कृत्य करके राजा सभा में आया। वहां मंत्री, सामंत, श्रेष्ठी तथा सार्थवाह आदि ने उसे प्रणाम किया। पश्चात् राजा ने विमलमति आदि मंत्रियों को अपना अभिप्राय कहा। तब उन्होंने हाथ जोड़कर विनन्ती की कि– हे देव ! जब तक गुणधरकुमार कवचधारी नहीं हो तब तक इस प्रजा का आप ही ने पालन करना चाहिये।

तब राजा बोला कि– हे मंत्रिवरों ! हमारे कुल में पलित होते हुए कोई गृहवास में रहता हुआ जानते हो ? तब वे बोले कि– हे देव ! ऐसा तो किसी ने नहीं किया। इस प्रकार मंत्रियों के साथ विविध बातचीत कर वह दिन पूरा करके राजा रात्रि को सुख पूर्वक सोता हुआ पिछली रात्रि में निम्नांकित स्वप्न देखने लगा।

मानो सात भूमि वाले महल के ऊपर एक सिंहासन पर वह बैठा है। उसे प्रतिकूल भाषिणी माता ने नीचे गिरा दिया। वहां वह व उसकी माता गिरते-गिरते ठेठ पहिली भूमि पर आ पहुँचे तथापि वह उठकर जैसे तैसे उक्त मेरु-पर्वत समान महल के शिखर पर चढ़ा।

अब नींद खुल जाने पर राजा सोचने लगा कि–कोई भयंकर फल होने वाला है। तो भी यह स्वप्न परिणाम में उत्तम है, अतएव क्या होगा इसकी खबर नहीं पड़ती। इसी बीच प्रभात काल के निवेदक ने पाठ किया कि, सद्वृत्त (गोल) गेंद के समान जो सद्वृत्त (श्रेष्ठ आचारण वाला) हो, वह दैव योग से गिरगया होवे तो भी पुनः ऊंचा होता है। उसकी अवनति (गिरीदशा) चिरकाल तक नहीं रहती।

अब प्रातः कृत्य करके राजा राजसभा में बैठा, इतने में बहुत से नौकर चाकरों के साथ यशोधरा वहां आई। राजा उठकर सामने गया और उसे उच्च आसन पर बिठाई। वह पूछने लगी कि–हे वत्स! कुशल है? राजा बोला कि– माता! आप के प्रसाद से कुशल है।

राजा विचार करने लगा कि– मैं व्रत ग्रहण करूंगा यह बात माता किस प्रकार मानेगी? कारण कि उसका मुझ पर बड़ा अनुराग है। हां, समझा, एक उपाय है। मुझे जो स्वप्न आया है वह कह कर पश्चात् यह कहूँ कि उसके प्रतिघात का हेतु मुनिवेश है, इसे वह मानलेगी और मैं दीक्षित हो सकूंगा।

यह सोचकर उसने माता को कहा कि– हे माता! मैंने ऐसा स्वप्न देखा है कि, मानो आज गुणधर कुमार को राज्य देकर मैं प्रव्रजित हो गया। पश्चात् मानो धवलगृह से गिर गया इत्यादि

बात राजा ने कही। जिसे सुन माता ने भयभीत हो बायें पैर से पृथ्वी दबाकर थू थू किया।

यशोधरा बोली— इस स्वप्न का विघात करने के लिये कुमार को राज्य देकर तूं श्रमणलिंग ग्रहण कर।

राजा बोलाः—माता की आज्ञा स्वीकार है।

यशोधरा बोलीः—तू गिर पड़ा उसकी शान्ति के लिये बहुत से पशु पक्षी मारकर कुल देवता की पूजा कर शान्ति कर्म करूंगी।

राजा बोलाः—हाय, हाय! माताजी आपने जीवघात से शांति कैसे बताई? शांति तो धर्म से होती है, और धर्म का मूल दया है। कहा भी है कि-भयभीत प्राणियों को अभय देना, इससे बढ़कर इस पृथ्वी पर अन्य धर्म ही नहीं।

जगत् में सुवर्ण, गाय तथा पृथ्वी के दाता तो बहुत से मिलेंगे, परन्तु प्राणियों को अभय देने वाला पुरुष तो कोई विरला ही मिलेगा।

महान् दान का फल भी समय पाकर क्षीण हो जाता है, परन्तु भयभीत को अभय देने का फल कदापि क्षय को प्राप्त नहीं होता।

दान, हवन, जप, तीर्थ सेवा तथा शास्त्र श्रवण ये सर्व अभय दान के षोडशांश भी नहीं होते। एक ओर समस्त यज्ञ और समस्त महादक्षिणाएं तथा एक ओर एक भयभीत प्राणी का रक्षण करना ये बराबर हैं। सर्व वेद उतना नहीं कर सकते। सर्व ही यज्ञ तथा सर्व तीर्थाभिषेक भी उतना नहीं कर सकते कि-जितना प्राणी की दया कर सकती है। इसलिये हे माता! यही

बताती हुई धम से राजा के ऊपर गिर पड़ी और राजा के गले पर अंगूठा दबाकर उसे मार डाला।

अब राजा आर्त्तध्यान में मरकर शैलंध्र पर्वत में मोर का बच्चा हुआ। उसे जय नामक शिकारी ने पकड़ लिया। उसे उसने गंगावाड़ ग्राम में चंड नामक तलार (जेलर) को एक पाली सत्त् लेकर बेच दिया। तलार ने उसे नृत्य कला सिखाई तथा अनेक जाति के रत्नों की माला से उसका श्रृंगार किया गया तथा उसके बहुत से पंख आये थे, इसलिये तलार ने उसको गुणधर राजा को भेंट कर दिया।

इस तरह यशोधरा भी पुत्र की मृत्यु से आर्त्तध्यान में पड़ कर उसी दिन मृत्यु को प्राप्त हो धन्यपुर में कुत्ते के अवतार में में उत्पन्न हुई। उस पवन वेग को जीतने वाले कुत्ते को भी उक्त नगर के राजा ने गुणधर राजा को भेट के तौर पर भेज दिया। इस प्रकार मोर का बच्चा व कुत्ता दोनों एक ही समय राजा गुणधर को मिले।

अब माता की प्रेरणा से राजा ने तल
मारा। तब माता ने कहा कि-अब इसका म
बोला-हे माता! विष खाना अच्छा परन्तु न
का कारण भूत अनेक त्रस जीवों की उत्पत्ति व
व अति वीभत्स मांस खाना अच्छा नहीं। तब
ने बहुत प्रार्थना करी। जिससे राजा ने आटे
खाया।

अब दूसरे दिन राजा कुमार को राज्य
दीक्षा लेने को तैयार हुआ। इतने में रानी ने
आज का दिन रह जाइए। हे आर्य पुत्र! आज
मिले हुए राज्य के सुख का अनुभव करके मैं
करूंगी। तब राजा विचार करने लगा कि-
क्या बात है? अथवा कोई स्त्री तो जीवित पर्ि
है तो कोई मरते के साथ भी मरती है। अतः
समान टेढ़े स्त्री चरित्र को कौन जान सकता है

इसलिये देखूं। कि- यह क्या करती है!
बोला कि-ठीक है, तो ऐसा ही होगा। तब र
लगी कि जो मैं इनके साथ प्रव्रज्या नहीं लूंगी
कलंक रहेगा, परन्तु जो किसी प्रकार राजा
बाल पुत्र के पालनार्थ मैं उनके साथ नहीं मरू
माना जायगा।

यह सोचकर उसने नखरूपी सीप में रखा
भोजन में दिया, जिससे तुरन्त राजा का गला
विष प्रयोग जानकर विष वैद्य बुलाये गये, इत
कि- जो वैद्य आवेंगे तो सब उल्टा हो जावेग

बताती हुई धम से राजा के ऊपर गिर पड़ी और राजा के गले पर अंगूठा दबाकर उसे मार डाला।

अब राजा आर्त्त ध्यान में मरकर शैलंध्र पर्वत में मोर का बच्चा हुआ। उसे जय नामक शिकारी ने पकड़ लिया। उसे उसने नंगवाड़ ग्राम में चंड नामक तलार (जेलर) को एक पाली रुत लेकर वेच दिया। तलार ने उसे नृत्य कला सिखाई तथा अनेक जाति के रत्नों की माला से उसका शृंगार किया गया तथा उसके वहुत से पंख आये थे, इसलिये तलार ने उसको गुणधर राजा को भेंट कर दिया।

इस तरफ यशोधरा भी पुत्र की मृत्यु से आर्त्त ध्यान में पड़ कर उसी दिन मृत्यु को प्राप्त हो धन्यपुर में कुत्ते के अवतार में में उत्पन्न हुई। उस पवन वेग को जीतने वाले कुत्ते को भी उक्त नगर के राजा ने गुणधर राजा को भेंट के तौर पर भेज दिया। इस प्रकार मोर का बच्चा व कुत्ता दोनों एक ही समय राजा गुणधर को मिले।

राजा ने हर्षित हो उन दोनों को पालकों के सिपुर्द किया। उन्होंने उनको राजा के विशेष प्रिय समझकर भली-भांति पाला। कालक्रम से वे दोनों मरकर दुष्प्रवेश नामक वन में नोलिया और सर्प हुए और वे एक दूसरे को भक्षण करके मर गये।

पश्चात् वे क्षिप्रा नदी में मत्स्य और शिशुमार के रूप में उत्पन्न हुए। उन्हें किसी मांसाहारी ने नदी प्रवेश करके

पश्चात् उसी नगरी में वे मेंढा व पाड़ा हुए, उनको भी मांस-लोलुपी गुणधर राजा ने बहुत दुःख देकर मरवाये। भवितव्यता वश पुनः वे उसी विशाला (उज्जयिनी) नगरी में मातंग के पाड़े में एक मुर्गी के गर्भ में उत्पन्न हुए।

उस मुर्गी को दुष्ट बिडाल ने पकड़ी। जिससे वह इतनी डरी कि उसके वे दोनों अंड़े घूड़े पर गिर गये। इतने में एक चांडालिनी ने उन पर कुछ कचरा पटका। उसकी गर्मी से वे पक कर मुर्गे के बच्चे के रूप में उत्पन्न हुए।

उनके पंख चन्द्र की चन्द्रिका के समान श्वेत हुई और शुक के मुख समान तथा गुंजार्द्ध सदृश उनको रक्त शिखा उत्पन्न हुई। उनको किसी समय काल नामक तलवर (कोतवाल, जेलर) पकड़ कर खिलौने की तरह गुणधर राजा के पास ले आया। राजा ने कहा कि- हे तलवर! मैं जहां-जहां जाऊँ वहां-वहां तू इनको लाना, तो उसने यह बात स्वीकार की।

अब वसन्त ऋतु के आने पर राजा अन्तःपुर सहित कुसुमाकर नामक उद्यान में गया व काल तलवर भी मुर्गों को लेकर वहां गया। वहां केल के घर के अन्दर माधवी लता के मंडप में राजा बैठा और काल तलवर अशोक वृक्षों की पंक्ति में गया। वहां उसने एक उत्तम मुनि को देखा।

तब उसने उक्त मुनि को निष्कपट भाव से वंदना की और मुनि ने उसको सकल सुखदाता धर्मलाभ दिया। उक्त मुनि का शांत-स्वभाव, मनोहर रूप और प्रसन्न मुख-कमल देखकर तलवर हर्षित हो उनको पूछने लगा कि- हे भगवन्! आपका कौन-सा धर्म है?

मुनि बोले कि- हे महाशय ! सदैव सर्व जीवों की रक्षा करना यही इस जगत में सामान्यतः एक धर्म है। उसके विभाग करें तो इस प्रकार हैं— जीवदया, सत्य वचन, पर धन वर्जन, नित्य ब्रह्मचर्य, सकल परिग्रह का त्याग और रात्रि भोजन का विवर्जन। बयालीस दोष रहित आहार का विधि पूर्वक भोजन करना तथा अप्रतिबद्ध विहार करना यह यति जनों का सर्वोत्तम धर्म है।

तब तलवर बोला कि- हे भगवन् ! मुझे गृहस्थ धर्म बताइए। तब परोपकार परायण मुनि इस प्रकार बोले कि-अर्हत् देव, सुसाधु गुरु और जिन भाषित धर्म यही मुझे प्रमाण हैं, ऐसा मानना सम्यक्त्व कहलाता है और उसके पूर्वक (मूल) ये बारह व्रत हैं।

(१) संकल्प करके निरपराधी त्रस जीवों को मन, वचन और काया से मारना व मरवाना नहीं. (२) कन्यालिक आदि स्थूल असत्य न बोलना. (३) सेंध लगाना आदि चोरी कहलाने वाला अदत्त नहीं लेना. (४) स्वदारा संतोष रखना व परदारा का त्याग करना. (५) धन धान्यादि परिग्रह का परिमाण करना. (६) लोभ त्याग कर सर्व दिशाओं की सीमा बांधना. (७) मधु मांसादि का त्याग करके विगय आदि का परिमाण करना. (८) यथाशक्ति अति प्रचंड अनर्थ दंड का त्याग करना. (९) फुरसत के समय सदैव समभाव रूप सामायिक करना. (१०) सकल व्रतों को संक्षेप करके देशावगासिक व्रत करना. (११) देश अथवा सर्व से शक्त्यानुसार पौषध व्रत का पालन करना. (१२) भक्ति पूर्वक साधुओं को पवित्र दान देकर संविभाग व्रत का पालन करना.

इस प्रकार बारह भांति का गृहस्थ धर्म है। उसे विधि पूर्वक पालन करके प्राणी क्रमशः कर्म कचरा विशुद्ध करके परम-पद प्राप्त कर सकते हैं।

पहुँचे। परन्तु तप से प्रज्वलित अग्नि के समान देदीप्यमान मुनि को देखकर औषधि से उतरे हुए विषधर सर्प के समान निस्तेज हो गये।

वे उक्त महा महिमाशाली मुनिश्वर को तीन प्रदक्षिणा दे पृथ्वी तल में सिर नमाकर चरणों में गिर पड़े। यह देख विलक्ष चित्त हो राजा सोचने लगा कि इन कुत्तों को धन्य है, परन्तु ऐसे मुनि को कष्ट पहुँचाने वाला मैं अधन्य हूँ।

इतने ही में राजा का बालमित्र अर्हन्मित्र नामक श्रेष्ठिपुत्र जैन मुनि व जिन प्रवचन का भक्त होने से मुनि को नमन करने के लिये वहां आ पहुँचा।

उसने राजा का मुनि को उपसर्ग करने का अभिप्राय जान लिया। जिससे वह बोला कि हे देव! आप ऐसें उदास क्यों दीखते हो। राजा ने उत्तर दिया—हे मित्र! मैं मनुष्यों में श्वान समान हूँ। इसलिये मेरा चरित्र सुनने का तुझे कोई प्रयोजन नहीं। तब वह मित्र बोला कि— हे देव! ऐसा वचन न बोलो। तुम शीघ्र घोड़े पर से उतरो और उक्त सुदत्त मुनि भगवान को वन्दन करने चलो। क्या आपने इनका जगत् को आश्चर्य में डालने वाला चरित्र नहीं सुना?

तब राजाने सम्भ्रान्त होकर उसको कहा कि—हे मित्र! मुझे यह बात कह, क्योंकि सत्पुरुष की कथा भी पापरूप अंधकार का नाश करने के लिये सूर्य की प्रभा के समान है। तब अर्हन्मित्र बोला कि—कलिंग देश के अमरदत्त राजा का सुदत्त नामक पुत्र था। वह न्यायशाली राजा हुआ। उसके सन्मुख किसी समय तलवार एक चोर को लाया और कहने लगा कि— हे देव! यह

चोर एक वृद्ध मनुष्य को मार अमुक मनुष्य का घर लूटकर मणि, सुवर्ण तथा रत्न आदि धन ले जा रहा था। इसे मैं आज पकड़ लाया हूँ। अब आप का अधिकार है।

तब धर्मशास्त्र पाठी (न्याय शास्त्री) के समक्ष उसका अपराध कहकर राजा ने उनको पूछा कि, इसे क्या दंड देना चाहिये, तब वे बोले इसके हाथ, पैर और कान काटकर इसे मार डालना चाहिये। यह सुन राजा सोचने लगा कि, धिक्कार है इस राज्य को। कारण कि इसमें जीव वध, अलीक भाषण अदत्तग्रहण, अब्रह्मचर्य आदि कुगति के द्वार समान आश्रव द्वार प्रवर्तित हो रहे हैं।

यह सोचकर सुदत्त ने अपने आनन्द नामक भानजे को, राज्य देकर सुधर्म गुरु से दीक्षा ली है। यह बात सुन राजा ने हर्षित हो तुरत घोड़े पर से उतर कर मुनीन्द्र को वन्दन किया। तब मुनि ने उसे धर्मलाभ दिया।

अब राजा मुनि का शान्तस्वरूप देख तथा कान को सुख देने वाले उनके वचन सुनकर शर्म से नतमस्तक हो मनमें पश्चाताप करने लगा। मैं ने इस ऋषि का घात करने का उद्यम किया है, इसलिये मेरी किसी भी प्रकार से शुद्धि नहीं हो सकती; अतएव इस तलवार से कमल के समान मेरा सिर उतार लूं।

हे राजन् ! पाप कलंक रूप पंक को धोने के लिये जिनेश्वर प्रणीत प्रवचन के वाक्य और अनुष्ठान रूप पानी के अतिरिक्त अन्य कोई समर्थ नहीं। तब हृदयगत अभिप्राय कह देने से राजा अत्यन्त हर्षित हो, नेत्र में आनन्दाश्रु भर, मुनि को नमन करके विनंती करता है कि- हे भगवन् ! इस पाप का निवारण हो सके ऐसा क्या प्रायश्चित है ? मुनि बोले कि, निदान कर्म से दूर रहकर उसके प्रतिपक्ष की आ-सेवा करना (यही इसका प्रायश्चित है)

यहां निदान यह है कि, यह पाप तूं ने मिथ्यात्व से मिले हुए अज्ञान के कारण किया है। कारण कि अन्यथा स्थित भाव को अन्यथा रूप से ग्रहण करना मिथ्यात्व है।

हे राजा ! तू ने श्रमण को देखकर अपशकुन हुआ ऐसा विचार किया और उसके कारण में हे भद्र ! तूं ने यह विचार किया कि यह मलमलीन शरीर वाला, स्नान और शौचाचार से रहित तथा परगृह भिक्षा मांग कर जीने वाला है, इससे अपशकुन माना जाता है। परन्तु अब हे मालवपति ! तू क्षणभर मध्यस्थ होकर सुन- मल से मलीन रहना यह मलीनता का कारण नहीं।

कहा है कि- मल से मलीन, कादव से मलीन और धूल से मलीन हुए मनुष्य मैले नहीं माने जाते, परन्तु जो पापरूप पंक से मैले हों वे ही इस जीवलोक में मलीन हैं। तथा स्नान में पानी से क्षणभर शरीर के बहिर्भाग की शुद्धि होती है, और वह कामांग माना जाता है, इसीसे महर्षियों को स्नान करना निषिद्ध है।

स्नान मद और दर्प का कारण होने से काम का प्रथम अंग कहा गया है। इसी से काम को त्याग करने वाले और इन्द्रिय-दमन-रत यतिजन बिलकुल स्नान नही करते।

आत्मारूप नदी है, उसमें संयमरूप पानी भरा हुआ है। जहां सत्य रूप प्रवाह है। शील रूप उसके किनारे हैं। व दया रूप तरंगें हैं। इसलिये हे पांडुपुत्र! उसमें तू स्नान कर, कारण कि-अन्तरात्मा पानी से शुद्ध नहीं होती।

व्रत व नियम को अखंड रखने वाले, गुप्त गुप्तेंद्रिय, कषायों को जीतने वाले और निर्मल ब्रह्मचारी ऋषि सदैव पवित्र हैं। पानी से भिगोये हुए शरीर वाला नहाया हुआ नहीं कहलाता किन्तु जो दमितेन्द्रिय होकर अभ्यंतर व बाहर से पवित्र हो वही नहाया हुआ कहलाता है।

अंतर्गत दुष्ट चित्त तीर्थ स्थान से शुद्ध नहीं होता, क्योंकि-मदिरा-पात्र सैकड़ों बार पानी से धोने पर भी अपवित्र ही रहता है।

सत्य पहिला शौच है, तप दूसरा है, इन्द्रिय निग्रह तीसरा शौच है, सर्व भूत का दया करना यह चौथा शौंच है और पानी से धोना यह पांचवा शौच है। और आरंभ से निवृत तथा इस लोक व परलोक में अप्रतिबद्ध मुनि को सर्व शास्त्रों में भिक्षा से निर्वाह करना ही प्रशंसित किया गया है।

फेंक देने में आती होने पर भी पवित्र, सर्व पाप विनाशिनी माधुकरी वृत्ति करना, फिर भले ही मूर्खादि लोग उसकी निन्दा किया करें। प्रान्त (हलके) कुलों में से भी माधुकरी वृत्ति ले लेना अच्छा, परन्तु बृहस्पति के समान पुरुष से भी एकान्न-एक गृह का भोजन करना अच्छा नहीं।

इस प्रकार श्रमण का रूप गुण से बहु मूल्य होकर देवताओं को भी मंगलकारी है तो हे नरनाथ! तुमने उसे अपशकुन कैसे माना? इत्यादि सुनकर राजा के मन में से अति दुष्ट मिथ्यात्व का नाश हो गया। जिससे वह हर्षित हो मुनिनाथ के चरणों में गिर कर अपने अपराध की क्षमा मांगने लगा।

मुनि बोले कि- हे नरेश्वर! इतना संभ्रम किसलिये करता है। मैंने तो प्रथम ही से तुझे क्षमा किया है। कारण कि क्षमा रखना ही हमारा श्रमण धर्म है।

राजा ने विचार किया कि- ऐसे मुनिश्वर के ज्ञान में कोई बात अज्ञात हो ऐसी नहीं। यह विचार कर उसने अपने बाप तथा पितामही की क्या गति हुई होगी, सो उक्त मुनि से पूछी।

तब मुनि ने आटे के मुर्गे से लेकर जयावली के गर्भ तथा पुत्र पुत्री होने तक का वृत्तान्त कह सुनाया।

तब राजा ने सोचा कि- अहो हो! स्त्रियों की क्रूरता देखो व मोह की महिमा देखो, वैसे ही संसार की दुष्टता देखो। जब कि शांति के निमित्त आटे के मुर्गे का किया हुआ वध तक मेरे

सकल जीवों से मित्रता रख, अधिक गुण वालों पर प्रमोद धर, दुःखी पर करुणा कर और अविनीत देखकर उदास रह। कारण कि- इस प्रकार अतिचार रहित व्रत नियम का पालन कर, अष्ट कर्म का क्षय करके थोड़े समय में परम पद प्राप्त किया जा सकता है।

तब हर्षित होकर राजा बोला कि- हे भगवान! क्या मेरे समान (व्यक्ति) भी व्रत लेने के योग्य हैं? गुरु बोले कि- हे नरवर! तो अन्य कौन उचित है?

तब राजा ने अपने सेवकों को कहा कि- तुम जाकर मंत्रियों को कहो कि- कुमार को राज्याभिषेक करें। मेरे लिये तुम कुछ भी खेद न करो। मैं सुदत्त गुरु से दीक्षा लेता हूँ। तदनुसार उन्होंने भी जाकर मंत्री आदि से यह बात कही।

तब वे, रानियां, कुमार, कुमारियां तथा शेष परिजन लोग विस्मित हो शीघ्र उस उपवन में आये।

वहां छत्र चामर का आटोप छोड़कर भूमि पर बैठे हुए राजा को जैसे-तैसे पहिचान कर वे गद्गद् कंठ से इस प्रकार कहने लगे कि- दाढ़ निकाले हुए सर्प के समान, पानी में घिरे हुए मदमस्त हाथी के समान और पिंजरे में पड़े सिंह के समान आप राज्य भ्रष्ट होकर क्या विचार करते हो?

पश्चात् गुणधर राजा ने विजयवर्म नामक अपने भानजे को राज्य भार सौंप, जिनेश्वर के चैत्यों में अष्टाह्निका महोत्सव करवा कर कतिपय रानियों तथा पुत्र, पुत्री, सामंत और मंत्री आदि के साथ सुदत्त गुरु से दीक्षा ग्रहण की।

करुणा पूर्ण कुमार साधु ने सूरिजी को विनंती करी कि- हे भगवन्! नयनावली को भी संसार समुद्र से तारिये।

गुरु बोले कि- हे करुणानिधान! वह इस समय कुष्ठ से पीड़ित है, उसके शरीर पर मक्षिकाएँ भिनभिनाती हैं और लोग उसे दुत्कारते हैं। उसने प्रति क्षण रुद्र ध्यान में रहकर तीसरी नरक की आयुष्य संचित की है और उसे अभी दीर्घ संसार भटकना है। इसलिये धर्म पालन के लिए वह तनिक भी उचित नहीं है।

तब गाढ़ वैराग्य धर चारित्र पालकर अभयरुचि साधु तथा अभयमती साध्वी सहस्रार देवलोक में देवता हुए।

बाद करिसय याने कर्षण से सुशोभित क्षेत्र के समान करिशत याने सकड़ों हाथियों से सुशोभित इस भरत क्षेत्र में लक्ष्मी

पश्चात् वह हाथी पर चढ़कर चामरों से विंजाता हुआ, मस्तक पर धवल छत्र धारण करके चलने लगा और मागध (भाट, चारण) उसकी स्तुति करने लगे।

उसके पीछे हाथी पर चढ़कर राजा आदि भी चले और प्रत्येक दिशा में रथ व घोड़ों के समूह चलने लगे।

इतने में कुमार की दक्षिण चक्षु स्फुरित हुई व उसने कल्याण सिद्धि भवन में एक कल्याण मय आकृति वाले मुनि को देखा। जिन्हें देखकर कुमार सोचने लगा कि– यह रूप मेरा पूर्व देखा हुआ सा जान पड़ता है। इस प्रकार संकल्प–विकल्प करते वह हाथी के कंधे पर मूर्छित हो गया। उसके समीप बैठे हुए रामभद्र नामक मित्र ने उसे गिरते-गिरते पकड़ लिया। इतने में "क्या हुआ - क्या हुआ ?" इस प्रकार कहते हुए राजा आदि भी वहां आ पहुँचे।

पश्चात् उसके शरीर पर चन्दन मिश्रित जल व पवन डालने से वह सुधि में आया और उसे जाति-स्मरण ज्ञान प्राप्त हुआ। राजा ने पूछा कि– हे वत्स ! यह कैसे हुआ ?

कुमार बोला– हे तात ! यह सब अति - गंभीर संसार का विलसित है।

राजा बोला– हे वत्स ! इस समय तुझे संसार के विलसित की चिंता करने की क्या आवश्यकता है ?

कुमार बोला– हे तात ! यह बहुत ही बड़ी बात है, इसलिये किसी योग्य स्थान पर बैठिये ताकि मैं अपना सम्पूर्ण चरित्र कह सुनाऊँ।

राजा के वैसा ही करने पर कुमार ने सुरेन्द्रदत्त के भव से लेकर पिष्टमय मुर्गे के वध से जो-जो क्लेश हुए उनका वर्णन किया।

इस प्रकार जाति-स्मरण होने तक उसका वह वृत्तांत सुनकर राजा आदि मनुष्य बोले कि- हाय-हाय ! जीव वध का संकल्प मात्र भी कितना भयानक है ?

पश्चात् हाथ जोड़कर कुमार कहने लगा कि- हे तात ! मुझ पर कृपा करो और मुझे चारित्र लेने की आज्ञा दो, कि जिससे मैं भव समुद्र पार करूं।

तब पुत्र पर अति स्नेह से मुग्ध मति राजा कुमार को आज्ञा देने में हिचकिचाने लगा, तो कुमार मधुर स्वर से नीचे लिखे अनुसार विनंती करने लगा।

यह संसार दुःख का हेतु, दुःख के फल वाला व दुस्सह दुःख रूप ही है, तो भी स्नेह रूप निगड़ से बंधे हुए जीव उसे छोड़ नहीं सकते। जैसे हाथी कादव में फंसा रहने से किनारे की भूमी पर नहीं चढ़ सकता, वैसे ही स्नेहरूप कादव में फंसा हुआ जीव धर्मरूप भूमि पर नहीं चढ़ सकता।

जिस प्रकार तिल स्नेह (तैल) के कारण इस जगत् में काटे जाते हैं। सुखाये जाते हैं। मरोड़े जाते हैं। बांधे जाते हैं और पीले जाते हैं, वैसे ही जीव भी स्नेह (प्रेम) के कारण ही दुःख पाते हैं।

स्नेह में बंधे हुए जीव मर्यादा छोड़कर धर्म विरुद्ध तथा कुल विरुद्ध अकार्य करते रुकते नहीं जहां तक जीवों के मन में थोड़ा सा भी स्नेह रहता है वहां तक उनको निवृत्ति (शांति) कैसे प्राप्त हो ? देखो, दीपक भी तभी निर्वाण पाता है जबकि उसमें स्नेह (तैल) पूरा हो जाता है।

ऐसा सुन राजा बोला कि- हे स्वच्छ बुद्धि शाली वत्स ! तू

कहता है वह सत्य है, परन्तु इस ईशान राजा की रंक (अभागी) पुत्री का क्या हाल होगा।

कुमार बोला कि- इसको भी यह व्यतिक्रम सुनाया जाय। कारण कि- सम्यक् रीति से यह बात सुनने से कदाचित् यह भी जिनधर्म का बोध पा जाय।

इस बात को योग्य मानकर राजा ने अपने शंखवर्धन नामक पुरोहित से कहा कि- तू कुमारी के पास जाकर यह सब विषय कह आ। तब पुरोहित वहां जाकर व क्षणभर में वापस आकर राजा को कहने लगा कि- कुमार के मनोरथ सिद्ध हुए हैं। राजा ने पूछा कि- किस प्रकार? तब वह बोला- हे देव! मैं यहां से वहां जाकर कुमारी को कहने लगा कि- हे भद्रे! क्षण भर एक चित्त रखकर राजा का आदेश सुन।

तब वह साड़ी से मुख ढ़ांक, आसन छोड़कर हाथ जोडती हुई बोली कि- प्रसन्नता से कहिये, तदनुसार मैंने उसे इस भांति कहा।

यहां आते हुए कुमार को साधु के दर्शन के योग से आज इसी समय जाति-स्मरण ज्ञान होकर उसे अपने नव भव स्मरण आये हैं।

वे इस प्रकार हैं कि- (प्रथम भव में) विशाला नगरी में वह यशोधरा का सुरेन्द्रदत्त नामक पुत्र था। इतना मैं बोला ही था, कि झट वह मूर्छित हो गई। क्षण भर में वह सुधि में आई, तब मैंने पूछा कि- यह क्या हुआ? तो वह बोली कि- हे भद्र! मैं ही स्वयं वह यशोधरा हूँ। पश्चात् कुमार के समान उसने भी सब बातें कहकर कहा कि- मुझे विवाह नहीं करना। कुमार को जो करना हो सो करे।

यह सुनकर मैं यहां आया हूँ। पुरोहित के इस प्रकार कहने पर राजा ने अपने मनोरथ नाम के छोटे पुत्र को राज्य पर स्थापित किया।

पश्चात् राजा ने कुमार, यशोधरा, सामंत, मंत्री तथा रानियों के साथ श्री इन्द्रभूति गणधर से दीक्षा ग्रहण की।

अब उक्त यशोधर मुनि षट् काय के जीवों की रक्षा करने में उद्यत हो महान् तप रूप अग्नि से पापरूप तरु को जलाने लगे।

गुरु के चरण में रहकर उन्होंने शुद्ध सिद्धान्त के सार का ज्ञान प्राप्त किया और सर्व आश्रवद्वार बन्द करके उत्कृष्ट चारित्र से पवित्र रहने लगे। पश्चात् आचार्य पद पाकर वे प्रद्वेष रहित हो हितोपदेश देकर भव्यजनों को तारते हुए केवलज्ञान को प्राप्त हुए।

इस प्रकार कर्म की आठ मूल प्रकृति और एकसो अट्ठावन उत्तर प्रकृति का क्षय करके दुःख दूर कर उन्होंने अजरामर स्थान पाया।

विनयवती भी अपने पितादिक को अपना संपूर्ण चरित्र कह कर प्रव्रजित होकर के सुगति को गई।

इस प्रकार यशोधर को प्राणी हिंसा के संकल्प मात्र से कैसी दुःख परंपरा प्राप्त हुई। यह सुन कर हे भव्यों! तुम नित्य दुःख का ध्वंस करने वाली, संसार समुद्र से तारने वाली, सद्धर्म रूपी वस्त्र को बुननेवाली, समस्त भय को नाश करने वाली और अक्षय जीवदया का पालन किया करो।

इस प्रकार यशोधर का चरित्र पूर्ण हुआ।

अब शुद्ध धर्म के लिये वह अनेक दर्शनियों को पूछता-पूछता एक ग्राम में भिक्षा के समय आ पहुँचा। वहां वह एक अव्यक्त लिंग धारी की मढ़ी में उतरा। उसने अतिथि के समान उसको स्वीकार किया। पश्चात् वह भिक्षा मांगने गया। क्षण भर में वह भिक्षा लेकर वापिस आया व दोनों ने उसको खाया। पश्चात् अवसर पाकर उस ब्राह्मण ने उक्त लिंगी को धर्म का तत्त्व पूछा!

लिंगी बोला कि- हे भद्र! सोम नामक गुरु के हम यश और सुयश नामक दो शिष्य हैं। गुरु ने हमको "मिष्ट भोजन" इत्यादिक तत्त्व का उपदेश किया है। परन्तु उसका अर्थ न बता कर गुरु परलोक वासी हो गये हैं। इससे मैं अपनी बुद्धि से इस प्रकार गुरु वचन की आराधना करता हूँ।

मंत्र और औषधियां बताने से मैं लोकप्रिय होगया हूँ। जिससे मुझे मिष्टान्न मिलता है और इस मढ़ी में सुख पूर्वक सोता हूँ।

तब सोमवसु विचार करने लगा कि- अरे! यह तो गुरु के कहे हुए तत्त्व का बाहरी अर्थ ही समझा हुआ जान पड़ता है। परन्तु गुरु का अभिप्रायः ऐसा हो ही नहीं सकता। क्योंकि मंत्र व औषधि आदि में तो अनेक जीवों का घात होता है, तो फिर परमार्थ से आत्मा लोक प्रिय हुई कैसे मानी जा सकती है? तथा मिष्टान्न तो प्रायः जीवों को गाढ़-रस-गृद्धि कराता है व उससे तो संसार बढ़ जाता है अतएव परमार्थ से वह कटुक ही है।

वैसे ही चन्द्रमा के प्रकाश समान निर्मल शील को धारण करने वाले और इन्द्रियों को वश में रखने वाले ऋषियों को एक स्थान में स्थिर रहकर सुख-शय्या करने का प्रतिषेध किया हुआ है।

तथा चोक्तं— सुख शय्या सनं वस्त्रं, तांबूलं स्नान मंडनं ।
दंतकाष्टं सुगंधं च, ब्रह्मचर्यस्य दूषणं ॥

कहा है कि- सुखशय्या, सुखासन, सुन्दर वस्त्र, तांबूल, स्नान, शृंगार, दन्त धावन और सुगंध, ये ब्रह्मचर्य के दूषण हैं।

यह सोचकर उसने लिंगी को पूछा कि- हे भद्र ! तेरा गुरु-भाई कहाँ है, सो कह। उसने उत्तर दिया कि- वह अमुक ग्राम में रहता है।

दूसरे दिन सोमवसु वहां पहुँचा और सुयश के मठ में ठहरा। पश्चात् दोनों जने एक महर्द्धिक श्रेष्ठि के घर जीमे। तदनन्तर उसके सुयश को तत्त्व पूछने पर उसने पूर्व का वृत्तान्त सुनाकर कहा कि- मैं एक दिन के अन्तर से जीमता हूँ, जिससे वह मुझे मीठा लगता है।

ध्यान और अध्ययन में प्रशांत रह कर कहीं भी सुख से सो जाता हूँ और निरीह रहने से लोकप्रिय हूँ। इस प्रकार गुरु-वचन पालता हूँ।

यह सुन ब्राह्मण विचारने लगा कि, उस (यश) से यह अच्छा है, तथापि गुरु वचन अभी गंभीर जान पड़ता है, अतएव उसका अभिप्राय कौन जा सकता है ? किन्तु किसी भी उपाय से मुझे इस वचन का शुद्ध अर्थ जानना चाहिये। इस प्रकार चिंता से संतप्त होता हुआ वह पाटलिपुत्र नगर में आया।

यहां शास्त्र के परमार्थ को जानने वाले, जैन सिद्धांत में कुशल त्रिलोचन नामक पंडित के घर वह पहुँचा। घर में जाते उसे द्वार-पाल ने अवसर न होने का कहकर रोका, इतने में दातौन और फूल लेकर एक सेवक आया। तब सोमवसु के दातौन मांगते हुए भी वह न देते हुए भीतर चला गया, बाद तुरन्त बाहर निकल कर बिना मांगे देने लगा।

यतः — विश्वस्याऽपि स वल्लभो गुणगणस्तं संश्रयत्यन्वहम् ।
तेनेयं समलंकृता वसुमती तस्मै नमः संततं ॥
तस्मात् धन्यतमः समस्ति न परस्तस्या नुगाऽकामधुक् ।
तस्मिन्नाश्रयतां यशांसि दधते संतोपभाक् यः सदा ॥

यथा — जो सदा संतोषी होता है वह जगत मात्र को प्रिय होता है। उसको सदैव गुण घेरे रहते हैं। उससे यह पृथ्वी अलंकृत होती है। उसको नित्य नमस्कार हो। उससे दूसरा कोई धन्यतम नहीं। उसके पीछे कामधेनु खड़ी रहती है और उसीमें सकल यश आश्रय लेते हैं।

यह सुन सोमवसु त्रिलोचन को कहने लगा कि— हे परमार्थ ज्ञाता ! आपको मेरा नमस्कार है।

त्रिलोचन बोला कि— हे भद्र ! मैं यह कहता हूँ कि तूं सुलक्षण है, कारण कि मध्यस्थ होकर तूं इस प्रकार सद्धर्म विचार कर देख सकता है।

पश्चात् सोमवसु उक्त पंडित की आज्ञा ले उसके घर से निकल कर अतिशुद्ध धर्म युक्त गुरु को प्राप्त करने की इच्छा कर शोध करने लगा। इतने में उसने पूर्वोक्त युक्ति से प्राशुक आहार को खोजते युग मात्र निश्चित नेत्र से चलते हुए जैन श्रमण देखे।

तब वह हर्षित हो सोचने लगा कि—मेरे सकल मनोरथ पूर्ण हुए क्योंकि कल्पतरु के समान इन पूज्य गुरुओं को मैंने देखा। उनके पीछे-पीछे जा उद्यान में आकर ठहरे हुए सुघोष गुरु को वंदन करके उसने उक्त तीन पदों का अर्थ पूछा। तब उक्त आचार्य ने भी वैसा ही अर्थ कहा।

उसने प्रथम पद का अर्थ तो उक्त मुनियों के ग्रहण किये हुए आहार को देखकर ही जान लिया था। परन्तु शेष पद जानने के लिये वह रात्रि को वहीं ठहरा। तब आवश्यकादिक कर पोरिसी कहकर आचार्य की आज्ञा ले मुनि-गण सोये। इतने में आचार्य उठे। उन्होंने उपयुक्त होकर वैश्रमण नाम का अध्ययन परावर्त्तन करना शुरू किया। इतने में कुबेर देवता का आसन चलायमान होने से तत्काल वहां वह उपस्थित हुआ।

वह एकाग्र चित्त से उक्त अध्ययन सुनने लगा। पश्चात् ध्यान समाप्त होने पर वह गुरु चरणों को नमन करके कहने लगा कि- जो इच्छा हो सो मांगो। तब गुरु बोले कि-तुझे धर्मलाभ होओ।

तब देदीप्यमान मनोहर उक्त कुबेर अति हर्षित मन से गुरु के चरणों को नमन करके स्वस्थान को गया।

यह देख कर सोमवसु ने अति हर्षित हो शुद्ध धर्म रूप धन पाया। वह मनमें सोचने लगा कि--अहो! इन गुरु-भगवान की त्रिलोक प्रसिद्ध कैसी निरीहता है। पश्चात् उसने अपना वृत्तान्त कह कर सुघोषगुरु से दीक्षा ग्रहण करी। इस प्रकार वह मध्यस्थ और सौम्यदृष्टि रखता हुआ अनुक्रम से सुगति को पहूँचा।

इस प्रकार सोमवसु को प्राप्त हुए बोधिलाभ रूप श्रेष्ठतम फल का विचार करके हे भव्यों! तुम शुद्ध भाव से माध्यस्थ्य गुण धारण करो।

सोमवसु की कथा पूर्ण हुई।

मध्यस्थ सौम्यदृष्टित्व रूप ग्यारहवां गुण कहा। अब बारहवां गुणरागित्व रूप गुण कहते हैं।

गुणरागी गुणवंते, बहुमन्नइ निग्गुणे उवेहेइ।
गुणसंगहे पवत्तइ, संपत्तगुणं न मइलेइ ॥ १९ ॥

अर्थः—गुणरागी पुरुष गुणवान जनों का अत्यादर करता है, निर्गुणियों की उपेक्षा करता है। गुणों का संग्रह करने में प्रवृत्त रहता है, और प्राप्त गुणों को मलीन नहीं करता।

टीकार्थः—धार्मिक लोगों में होने वाले गुणों में जो सदैव प्रसन्न रहता हो वह गुणरागी है। वह पुरुष गुणवान् यति श्रावकादिक को बहुमान देता है याने कि उनकी ओर प्रीतिपूर्ण मन, रखता है। वह इस प्रकार कि (वह सोचता है कि) अहो ये धन्य है इनका मनुष्य जन्म सफल हुआ है, इत्यादि। तो इस पर से तो यह आया कि निर्गुणियों की निन्दा करे, क्योंकि-जब यह कहा जाय कि देवदत्त दाहिनी आंख से देख सकता है तब बाई से नहीं देख सकता है यह समझा ही जाता है।

कोई कोई कहते हैं कि शत्रु में भी गुण हों तो वे ग्रहण करना चाहिये और गुरु में भी दोष हों तो कह देना चाहिये परन्तु ऐसा करना धार्मिक जन को उचित नहीं, इसीलिये कहते हैं कि:- वैसा पुरुष निर्गुणियों की उपेक्षा करता है, याने कि स्वतः संक्लिष्ट चित्त न होने से उनकी भी निंदा नहीं करता है। जिससे वह ऐसा विचार करता है कि:— सत् या असत् पर-दोष कहने व सुनने में कुछ भी गुण प्राप्त नहीं होता। उनको कहने से वैर बुद्धि होती है और सुनने से कुबुद्धि आती है।

अनादि काल से अनादि दोषों से वासित हुए इस जीव में जो एकाध गुण मिले तो भी महान् आश्चर्य मानना चाहिये।

बहुत गुण वाले तो विरले ही निकलते हैं—परन्तु एक एक गुणवाला पुरुष भी सब जगह नहीं मिल सकता। (अन्त में निर्गुणी होते हुए भी) जो निर्दोष होता है उसका भी भला होगा और जो थोड़े दोष वाले हैं उनकी भी हम प्रशंसा करते हैं।

उपरोक्तानुसार संसारस्वरूप सोचता हुआ गुणरागी पुरुष निर्गुणों की भी निंदा नहीं करता, किन्तु उपेक्षा रखता है अर्थात् उस ओर मध्यस्थ भाव से रहता है। तथा गुणों का संग्रह याने ग्रहण करने में प्रवृत्त रहता है याने यत्न रखता है और संप्राप्त हुए याने अंगीकार किये हुए सम्यक्त्व तथा व्रतादिक को मलीन नहीं करता याने कि उनमें अतिचार नहीं लगाता. पुरन्दर राजा के समान।

पुरन्दर राजा की कथा इस प्रकार है।

अमरावती के समान सकल अमर (देवताओं) को हितकारी वाराणसी नामक नगरी है। वहां शत्रुसैन्य का निर्दलन करने वाला विजयसेन नामक राजा था। उसकी कमल की माला समान गुणयुक्त कमलमाला नामक रानी थी। उसका इन्द्र समान सुन्दर रूपवान पुरन्दर नामक पुत्र था। वह स्वभाव ही से गुणों पर राग रखने वाला और सुशील था जिससे सारे नगर में निरन्तर उसके गुण गाये जाते थे।

पंडित, भाट चारण और सुभटजन अपना अपना काम छोड़कर उक्त कुमार की बुद्धि, उदारता और शौर्य की प्रशंसा करते हुए सारे नगर में फिरते थे। उसे ऐसा गुणवान सुनकर व देखकर राजा की एक दूसरी मालती नामक रानी उस पर अतिशय अनुरक्त होगई।

नहीं। कहा है कि-विद्वान पुरुष ने समय आने पर विद्या साथ में लेकर मरना अच्छा है; परन्तु अपात्र को न देना और वैसे ही पात्र से छुपाना भी नहीं।

इस प्रकार चिन्ता करते मुझे इसी विद्या ने बताया है कि-गुणराग आदि श्रेष्ठ गुणों से युक्त तूं ही सुयोग्य है। इसलिये वह तुझे देने के लिये मैं यहां आया हूँ। अतएव हे महाभाग! इसे ले कि जिससे बोझा ढोने वाला जैसे बोझा उतार कर सुखी होता है; वैसे मैं भी सुखी होऊं।

यह महा विद्या विधि पूर्वक सिद्ध करने से नित्य सिरहाने में सहस्र स्वर्णमुद्रा देती रहती है। और इसके प्रभाव से प्रायः लड़ाई (युद्ध) में पराजय नहीं होता तथा इन्द्रियों से पृथक रही हुई वस्तुएं भी इससे जानी जा सकती हैं। तब उल्लसित विनय से मस्तक कमल नमा, हाथ जोड़ कर राजकुमार इस प्रकार बोला।

गंभीर, उपशान्त, निर्मल गुणरूपी रत्न के रोहणाचल समान बुद्धि की समृद्धि युक्त, गुणीजन पर अनुराग रखनेवाले, जगत् में चारों ओर विस्तृत कीर्तिवाले और परोपकार करने ही में दृढ़ मन रखनेवाले आपके समान सत्पुरुष ही ऐसे रहस्य को योग्य माने जाते हैं।

मैं तो बाल व तुच्छ बुद्धि वाला हूं। मुझ में कुछ भी शुद्धज्ञान विज्ञान नहीं। इससे मेरे गुण किस गिन्ती में हैं, व मुझ में क्या योग्यता है, ऐसा ही मैं तो विश्वास रखता हूँ। किन्तु आपके समान महापुरुष मेरे समान लघु जनों को आगे रखें तो अलबत्तः कुछ कार्य कर सकते हैं। जैसे कि-सूर्य का आगे किया हुआ अरुण भी अंधकार को दूर कर सकता है। बानर का पराक्रम तो इतना ही है कि वह एक शाखा से कूद कर दूसरी शाखा पर जा सकता है, किन्तु समुद्र कूद जाना यह तो स्वामी ही का प्रभाव है।

अब सिद्ध पुरुष बोला कि, तूं इस प्रकार बोलता हुआ रहस्य के योग्य ही है, कि जिसके चित्त में इतना गुणराग विद्यमान है। कारण कि-गुण के समूह से तमाम पृथ्वी को धवल करने वाले गुणी पुरुष तो दूर रहे परन्तु जो गुण के अनुरागी होते हैं वे भी इस जगत् में विरले ही मिलते हैं। कहा है कि,—

निर्गुणी गुणी को पहिचानता नहीं और जो गुणी कहलाते हैं वे (अधिकांश) अन्य गुणियों पर मत्सर रखते दृष्टि में आते हैं, इसलिये गुणी व गुणानुरागी ऐसे सरल स्वभावी जन तो विरले ही होते हैं।

यह कह बहुमान पूर्वक वह उसे उक्त विद्या देकर कहने लगा कि-हे भद्र ! इस वन में एक मास पर्यन्त शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन कर आठ उपवास पूर्वक कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि में इस विद्या का

न करके उलटी हानि करती है। साथ ही विद्या दायक लघुता कराती है।

कच्चे घड़े में पानी रखने से वह जल्दी ही उसका नाश है, वैसे ही तुच्छ पात्र को दी हुई विद्या उसका अनर्थ है। चलनी के समान पात्र में विद्या देने से गुरु क्लेश और लोकों में अपवाद आदि होता है।

अत्यन्त भक्तिपूर्वक कुमार के पुनः वही मांगणी करने सिद्ध पुरुष ब्राह्मण को भी विद्या देकर अपने स्थान गा। तदनन्तर पूर्वोक्त विधि से कुमार ने उस विद्या की की तो वह प्रगट होकर कहने लगी कि हे भद्र! मैं तुझे सिद्ध हो गई हूं; किन्तु ब्राह्मण कहां गया? इसका तूं विचार ना। यह बात समय पर स्वतः प्रगट हो जायगी। यह कह वो अंतर्ध्यान हो गई।

तेरी बुद्धिरूप नाव के बिना यह कष्ट सागर तैर के पार करने जैसा नहीं है। तब श्रीनन्दन बोला—

हे पिता! आपके सन्मुख मुझ बालक की बुद्धि का क्या अवकाश? क्योंकि सहस्र किरण (सूर्य) के सन्मुख दीपक की प्रभा क्या शोभती है।

तब तिलकमंत्री बोला कि-हे वत्स! ऐसा कोई नियम ही नहीं कि बाप से पुत्र अधिक गुणी नहीं होता है। देखो! जल में से पैदा हुआ चन्द्र अखिल विश्व को प्रकाश देता है, वैसे ही पंक में से पैदा हुए कमल को देवता सिर पर धारण करते हैं।

श्रीनन्दन बोला कि—जो ऐसा है तो आपके प्रताप से उसे ढूंढ लाने का एक उपाय मैं जानता हूँ। (वह उपाय यह है कि) मेरु समान स्थिर, चन्द्र समान सौम्य, हाथी समान बलवान, सूर्य समान महाप्रतापी और समुद्र समान गंभीर, ऐसा विजयसेन राजा का पुरन्दर नामक कुमार वाराणसी नगरी से देशाटन करने के मिष से यहां आया हुआ है। वह मेरा मित्र है तथा वह उसकी चेष्टाओं से विद्या सिद्ध जान पड़ता है, अतएव बन्धुमती को ढूंढ लाने में वही समर्थ है।

तब पिता के यह बात स्वीकार करने पर श्रीनन्दन कुमार के पास आ उसकी यथोचित् विनय कर के उसे राजा के पास बुला लाया।

कुमार बोला कि, हे देव ! ऐसा न बोलिये । कारण कहा है कि-गुरुजनों के मन की कृपा है वही सन्मान है । बाहरी आगत स्वागत तो कपटी भी करते हैं । तब राजा के आंख के संकेत से सूचित करने से श्रीनन्दन वह सर्व वृत्तान्त सुनाकर कुमार को इस प्रकार कहने लगा ।

हे बुद्धिशाली ! तू विचार करके इस सम्बन्ध में कोई ऐसा उपाय कर कि जिससे हम सब लोग व राजा निश्चिन्त होवें । तब परकार्यरत कुमार इस बात को मान्य कर अपने स्थान को आया और विधिपूर्वक अपनी विद्या को स्मरण करने लगा ।

यह क्या हुआ । इतने ही में उन्होंने देव समान कुमार को देखा । विद्याधर ने सोचा कि निश्चय यह कोई बंधुमती को लेने के लिये आया जान पड़ता है । जिससे वह हाथ में धनुष धारण कर कहने लगा ।

रे बालक ! शीघ्र दूर हो । मेरे बाण रूप प्रज्वलित अग्नि में पतंग के समान मत गिर । तब राज कुमार हँसता हुआ कहने लगा कि– जो पुरुष कार्य करने में लिपट जाय उसीको ज्ञानीजन बालक कहते हैं । इसलिये बंधुमती को हरने से तूं ही बालक है । यह बात तीनों जगत् में प्रसिद्ध है । इस प्रकार तेरे दुश्चरित्र ही से तूं नष्ट प्रायः है । अतः तुझ पर क्या प्रहार करूं । यद्यपि अब भी तुझे भारी गर्व है, तो तूं ही प्रथम प्रहार कर ।

तब कोप से दांत कटकटाकर विद्याधर बाण फेंकने लगा । कुमार ने विद्या के बल से अपने बाणों द्वारा उनको प्रतिहत किये । तब उसने अग्न्यस्त्र फेंका । उसे कुमार ने जलास्त्र से नष्ट कर दिया । सर्पास्त्र को गरुड़ास्त्र से तथा मेघास्त्र को पवनास्त्र से नष्ट कर दिया । तब विद्याधर ने अग्नि की चिनगारियां बरसाता हुआ लोहे का गोला फेंका । उसको कुमार ने वैसे ही प्रतिगोले से चूरचूर कर दिया ।

महा बलवान् हो तो उठकर धनुष पकड़कर युद्ध करने को तैयार हो। कारण कि कायर पुरुष होते हैं वे ही पीठ फेरते हैं। तब कुमार के अनुपम शौर्य से आकर्षित होकर विद्याधर उसे कहने लगा कि- मैं तेरा किंकर ही हूँ, अतः जो उचित हो सो आज्ञा कर।

(इस समय) राजपुत्री सोचने लगी कि, जगत् में वे ही शूर कहलाते हैं कि- जो इस प्रकार गर्विष्ट शत्रुओं से भी प्रशंसा पाता है। अब कुमार उक्त राजपुत्री को आश्वासन देकर नंदीपुर की ओर रवाना हुआ इतने में मणिकिरीट ने कहा कि- आज से यह बंधुमती मेरी बहिन है, और हे कुमार! तू मेरा स्वामी है। इसलिये कृपा करके आपके चरणों से मेरा नगर पवित्र कीजिए। तब कुमार दाक्षिण्यवान् होने से राजकुमारी सहित गंधसमृद्ध नगर में गया। विद्याधर ने उनका बहुत आगत स्वागत किया। पश्चात् राजकुमार उक्त विद्याधर तथा राजपुत्री के साथ उत्तम विमान पर आरूढ़ होकर नंदीपुर के समीप आ पहुँचा।

एक राजा ने आगे जाकर शूर राजा को बधाई दी जिससे वह भारी सामग्री से कुमार के सन्मुख आया। पश्चात् कुमार और कुमारी ने उक्त विमान से उतर कर सजाये हुए बाजारों से सुशोभित उस नगर में बड़ी धूमधाम से प्रवेश किया। उन्होंने आकर राजा के चरणों में नमन किया। जिससे राजा ने हर्षित होकर उनका अभिनंदन किया। पश्चात् कुमार ने राजा को विद्याधर का सकल वृतान्त कहा। तब शूर राजा ने अति हर्षित होकर बड़ी धूम-धाम से पुरन्दर कुमार से बंधुमती का विवाह किया।

वहां श्रेष्ठ प्रासाद में रह कर मनवांछित सर्व विषय भोगते हुए दोगुंदुक देव के समान कुमार ने बहुत काल व्यतीत किया।

एक दिन वह सैंकड़ों सुभटों से भरे हुए सभा स्थान में बैठा था। इतने में सुवर्णमय दंडधारी द्वारपाल उसे इस प्रकार कहने लगा। हे देव! आपके दर्शन के लिये एक चतुरवदन नामक मनुष्य बाहिर खड़ा है। तब कुमार ने कहा कि- उसे जल्दी अन्दर भेजो। तदनुसार वह उसे अंदर लाया। उसे अपने पिता का प्रधान जानकर कुमार ने उससे मिलकर माता पिता की कुशलता पूछी। उसने भी यथा योग्य उत्तर दिया किन्तु वह बोला कि- आपके विरह से आपके माता पिता अश्रुपूर्ण नेत्रों से जो दुःख भोग रहे हैं उसे तो सर्वज्ञ ही जानता है।

यह सुन खिन्न हो, कुमार शूर राजा की आज्ञा ले बंधुमती सहित हाथी-घोड़े-रथ और पैदल लेकर (अपने नगर की ओर) चला। यह खबर मिलते ही राजा विजयसेन महान् परितोष पाकर सामने आया। पश्चात् बड़े आडंबर के साथ कुमार ने नगर में प्रवेश किया। इसके अनन्तर उसने अपनी पत्नी सहित माता पिता के चरणों को नमन किया। उन्होंने मंगलमय आशीषों से इनको बधाई दी।

अब सकल जनों को हर्ष देने वाले राजकुमार के दर्शन के लिये ही मानो आ रहा हो वैसे कुंद के पुष्पों को प्रकट करने वाला हेमन्त ऋतु संप्राप्त हुआ। इस अवसर पर उद्यान पालकों ने आकर विनय सहित राजा को निवेदन किया कि- वहां श्री विमलबोध नामक आचार्य पधारे हैं।

यह सुन राजा ने उनको बहुत दान दिया। पश्चात् वह युवराज, नगर-जन सामन्त तथा रानियों सहित उच्च गंध हस्ती पर चढ़कर प्रौढ भक्ति पूर्वक उक्त यतीश्वर को नमन करने के लिये बड़े परिवार के साथ वहां आया।

वहां उसने हृदय से निकाल कर मसल डालते हुए रागरूप रस ही से मानो रंगे हों ऐसे सिंदूर के समान रक्त हाथ, पैर से सुशोभित, नगर द्वार की अर्गलाओं के समान लम्बी भुजावाले, मेरुशिला के समान विशाल वक्षस्थल वाले तथा पूर्णिमा के चन्द्रमा समान मुख वाले मुनिश्वर को देखे।

तब हाथी पर से उतर चामरादिक चिन्ह दूरकर गुरु चरण में नमन कर हर्षित हो राजा इस प्रकार बोला। हे भगवन्! आपने ऐसा रूप व लावण्य होते हुए व इससे आप राज्यसुख भोगने के योग्य होते हुए ऐसा महादुष्कर व्रत क्यों ग्रहण किया है।

तब जगत् का एकान्त हित चाहने वाले आचार्य बोले कि, हे राजन्! तू शान्त मन से सुन! यहां सुजन के हृदय के समान अति विस्तृत भवावर्त नामक नगर है। उसमें मैं सांसारिक जीव नामका कुटुम्बी था। उस नगर में सब मेरे सहोदर भाई ही बसते हैं। वहां रहने वाले हम सब को एक तीव्र विष वाले और नवीन बादल के समान काले निर्दयी सर्प ने डसा।

जिससे हमको उस तीव्र विष के चढ़ने से भारी मूर्छा आने लगी। आंखें बन्द होने लगी। मति भ्रमित होने लगी। कार्या-कार्य का ज्ञान जाता रहा। अपने आपको भूल जाने लगे। हितोपदेश सुनना भी अनुपयोगी हो गया। ऊंचा नीचा दीखना बंद हो गया। उचित प्रतिपत्ति करने में रुक गये और समीपस्थ स्वजनों से बोलना भी बन्द हो गया। हम में से कितनेक तो काष्टवत् निश्चेष्ट हो गये। कितनेक अव्यक्त शब्द घुरघुराते हुए जमीन पर लौटने लगे। कितनेक शून्य हृदय हो इधर उधर भटकने लगे। कितनेक तीव्र विष के प्रसार से अत्यन्त दाह

की वेदना पाकर अति दुःखित होने लगे । कितनेक अव्यक्त स्वर से रोते हुए स्फुट वचन बोलने में असमर्थ हो गये। कितनेक कभी हिलते-कभी गिर पड़ते, कभी मूर्छित होते, कभी सो जाते, कभी जागते और कभी फिर विष चढ़ने से ऊंघते कितनेक सदैव भरनिद्रा में पड़े रहकर बेभान हो जाते थे।

इस प्रकार उस संपूर्ण नगर के विष वेदना से पीड़ित हो जाने पर वहां एक महानुभाग विनीत शिष्यों के परिवार सहित गारुडिक आ पहुंचा। उसने नगर के यह हाल देखकर करुणा लाकर लोगों से कहा कि:-हे लोगों! तुम जो मेरे कथन के अनुसार क्रिया करो तो मैं तुम सब को इस विष वेदना से मुक्त करदूं।

लोग बोले कि- वह कैसी क्रिया है?

गारुडिक बोला:—प्रथम तो तुम मेरे इन शिष्यों के समान वेष धारण करो। पश्चात् अखिल जगत् के प्राणियों की रक्षा करना। छोटे से छोटा भी असत्य न बोलना। अदत्त दान नहीं लेना। नवगुप्ति सहित निष्कपट ब्रह्मचर्य पालन करना। अपने शरीर पर ममता न रखना। रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग करना। स्त्री पशु पंडक रहित स्मशान गिरिगुफा तथा शून्य घर अथवा वन में वास करना। भूमि वा काष्ट की शय्या पर सोना। युग मात्र दृष्टि रखकर भ्रमण करना। हितमित अगर्हित निर्दोष वचन बोलना। अकृत, अकारित, अननुमत, असंकल्पित आहार लेना। किसी का बुरा नहीं विचारना। राजकथादिक विकथाओं से दूर रहना। कुसंग से दूर रहना। कुगुरु से संबंध न रखना। यथाशक्ति तपश्चरण करना। अनियतता से विहार करना। परीषह और उपसर्गों को सम्यक् प्रकार से सहन करना। पृथ्वी के समान सब सहन करना। अधिक क्या कहूँ—इस क्रिया

में क्षणभर भी प्रमादी नहीं होना और मेरे बताये हुए मंत्र का निरन्तर जप करना। ऐसा करने से पूर्वोक्त विष विकार दूर होते हैं। निर्मल बुद्धि प्रकट होती है। विशेष क्या कहूँ परंपरा से परमानन्द पद प्राप्त हो सकता है।

हे महाराजन्! उसका यह वचन कितनेक विष विवश लोगों ने तो सुना ही नहीं। कितनेकों ने सुना उनमें से भी बहुत से तो हँसने लगे। कितनेक अधीर हो गये। कितनेक निन्दा करने लगे। कितनेक दुर्विदग्ध होकर स्वकल्पित अनेक कुयुक्तियों से उसका खंडन करने लगे। कितनेक उसे स्वीकार करने में रुके। कितनेकों ने स्वीकार किया किन्तु उसके अनुसार करने को असमर्थ हुए। केवल थोड़े से लघुकर्मी महाभाग पुरुष ही उसे स्वीकार करके पालने लगे। उसी समय हे राजेन्द्र! मैंने भी सर्प विष से पीड़ित होकर अमृत के समान उसका वचन अंगीकार किया है। उसका दिया हुआ वेष धारण किया है, और यह अति दुष्कर क्रिया करने लगा हूँ। यही मेरे व्रत ग्रहण करने का कारण है।

यह सुन इस बात का परमार्थ न समझने से राजा ने पुनः मुनीन्द्र से पूछा कि, हे भगवन्! वह इतना महान् नगर सहोदर भाइयों से किस प्रकार बसा होगा? और इतनों को एक ही सर्प ने किस प्रकार डसा होगा? और उन सब का विष उतारने में वह अकेला गारुडिक किस प्रकार समर्थ हो सकता है? तथा उसने विष उतारने की ऐसी विधि क्यों बताई?

तब गुरु बोलेः—हे राजेन्द्र! यह कोई बाहिरी अर्थवाला वचन नहीं, किन्तु भव्यजनों को वैराग्य उपजाने के हेतु समस्त अन्तरंग भावार्थ वाला वचन है। वह इस प्रकार है कि:—हे

नरनाथ ! इस संसार में नारकादिक भवों का चक्कर लेना पड़ता है जिससे इस संसार को भवावर्त्त नगर कहा है। कर्म परिणति नाम का राजा कालपरिणति नामकी रानी सहित सकल जीवों का पिता है। इससे यह सब जीव सहोदर हैं। इस भवावर्त्त नगर में वैसे अनन्तों जीव बसते हैं। उन सबको एक ही सर्प ने इस प्रकार डसा है।

आठ मदरूप आठ फणवाला, दृढ कुवासनाओं से काले वर्णवाला, रति अरति रूप चपल जीभ वाला, ज्ञानावरणादिरूप बच्चों वाला, कोप रूप महान् विष कंटक से विकराल, राग द्वेष रूप दो नेत्र वाला, माया और गृद्धिरूप लम्बी विष पूर्ण दाढ वाला, मिथ्यात्वरूप कठोर हृदय वाला, हास्यादिरूपश्वेत दांत वाला, चित्त रूप बिल में निवास करने वाला, भयंकर मोह नामक महा सर्प अखिल त्रिभुवन को डस रहा है।

उसके डसे हुए जीव मूर्छित की भांति कर्त्तव्य नहीं समझ सकते और क्षणिक सुख में मुग्ध होकर आंखे मींच लेते हैं। उनके अंग इतने जड़ हो जाते हैं कि उनको नौकर चाकर हिलाते डुलाते हैं। उनकी मति इतनी भ्रष्ट हो जाती है कि- वे देव व गुरु को नहीं पहिचान सकते हैं। क्या मुझे करना चाहिये और क्या न करना चाहिये तथा मैं कौन हूँ ? आदि वे नहीं जान सकते, इसी भांति गुरु की बताई हुई हित शिक्षा को भी वे सुन नहीं सकते। वे सम विषम कुछ भी नहीं जान देख सकते, वैसे ही अपने गुरुजनों की उचित प्रतिपत्ति भी कर नहीं सकते तथा गूंगे (मूक) की भांति दूसरों को बोलाते भी नहीं।

इन जीवों में जो अति तीव्र विष से आहत हुए हैं वे निश्चेष्ट एकेन्द्रिय हैं, दूसरे अव्यक्त शब्द करके जमीन पर लौटते हैं वे

विकलेन्द्रिय हैं। हे राजन् ! शास्त्र युक्ति से असंज्ञियों की चेष्टाएं शून्य समान हैं वैसे ही दाहादिक दुःख की पीड़ा, सो नारकीय जन्तुओं को है, क्योंकि उनको अशान्ति नामक लघु सर्प का अति भयंकर दंश लगा हुआ है। इस भांति सब जगह विशेष भावार्थ जानो। अव्यक्त रोने वाले हाथी, ऊंट इत्यादि जानो और स्खलनादिक पाने वाले मनुष्य जानो। जागते हैं सो कम विष चढ़ने से विरति को अंगीकृत करने वाले जानो। पुनः विष चढ़ने से ऊंघते हैं वे विरति से पीछे भ्रष्ट होने वाले जानो। सदा सोते ही रहने वाले अविरतिरूप निद्रा में पड़े हुए देवता जानो। इस प्रकार सकल जन मोह रूपी सर्प के विष से विधुर हो रहे हैं। उनके सन्मुख जिनेश्वर भगवान को गारुडिक जानो।

उनकी उपदेश की हुई यतिजन को करने योग्य क्रिया में सदा अप्रमादी रहकर जो सिद्धान्त रूप मंत्र का जप किया जावे तो सब विष उतर जाता है. इसलिये वह भव्यजनों का निष्कारण बंधु और परम करुणासागर भगवान् एक होते हुए भी समस्त त्रिभुवन का विष उतारने को समर्थ है।

यह सुन राजा अपूर्व संवेग प्राप्तकर मस्तक पर हाथ जोड़ प्रणाम करके उक्त मुनीन्द्र को कहने लगा कि- हे मुनिपुंगव ! आपकी बात वास्तव में सत्य है। हम भी मोह विष से अतिशय घिरकर अभी तक अपना कुछ भी हित जान नहीं सके। पर अब राज्य की सुव्यवस्था करके मैं आपसे व्रत लूंगा। गुरु बोले कि- हे नरेन्द्र ! इसमें क्षणभर भी प्रमाद न कर।

तब पुरन्दर कुमार को राज्य देकर विजयसेन राजा, कमलमाला रानी तथा सामन्त और मंत्री आदि के साथ दीक्षित हुआ। मालती रानी ने भी गुरु को अपना दुश्चरित्र बताकर कर्म

रूपी गहन वन को जलाने में दहन समान दीक्षा ग्रहण करी। तदनन्तर नमित सुर, असुर, किन्नर और विद्याधरों द्वारा गीयमान, निर्मल यशस्वी आचार्य भव्यजनों का उपकार करने के हेतु अन्य स्थल को विहार करने लगे।

इधर पुरन्दर राजा शत्रु सैन्य को दलित करके राज्य का प्रति पालन करने लगा। उसने बहुत से अपूर्व चैत्य तथा जीर्णोद्धार कराये। वह साधर्मि वात्सल्य में उद्यत रहता। इन्द्रियों को वश में रखता तथा प्रजा का संकटों से अपनी संतति के समान रक्षण करता था।

वह एक दिन बन्धुमती के साथ झरोखे में बैठकर नगर की शोभा देखने लगा। इतने में उसने कोढी जैसे मक्खियों से घिरा हो वैसे बहुत से नगर के बालकों से घिरा हुआ, धूल से भरा हुआ, बहुत बकबकाट करता, मात्र लंगोटी पहिरे हुए और क्रोध से चारों ओर दौड़ता हुआ एक पागल पुरुष देखा। वह वही ब्राह्मण मित्र था कि–जिसने विद्या का आराधन नहीं किया। उसे पहिचान कर राजा ने विद्या देवी को स्मरण किया, तो वह प्रकट होकर कहने लगी कि– इस ब्राह्मण ने गुणीजन के उपहास में तत्पर रहकर विद्या की विराधना की है। जिससे मैंने क्रुद्ध होकर भी तेरी दाक्षिण्यता के योग से इसे जीवित रहने दिया है, किन्तु शिक्षा मात्र के रूप में इसके ये हाल किये हैं। तब राजा देवी को इस प्रकार विनय करने लगा।

हे देवी! जो भी यह ऐसा है, तो भी तू इसे जैसा था वैसा ही कर और मुझ पर कृपा करके यह अपराध क्षमा कर। तब देवी उस ब्राह्मण को वैसा ही करके अंतर्ध्यान हो गई। बाद राजा ने उस ब्राह्मण को यथायोग्य सत्कार करके विदा किया।

इधर चिरकाल अकलंक चारित्र पालन करके विजयसेन श्रमण अनन्त सुख के धाम मोक्ष को प्राप्त हुए।

पुरन्दर राजा ने भी अपने पुत्र श्रीगुप्त को राज्य पर स्थापित करके श्री विमलबोध केवली से दीक्षा ग्रहण कर ली। वह अनुक्रम से गीतार्थ हो एकाकी विहार प्रतिमा को अंगीकृत करके कुरु देश के अस्थिक ग्राम के बाहिर आतापना लेता हुआ सन्मुख स्थित रूक्ष पुद्गल पर दृष्टि रख ध्यान में लीन होकर खड़ा था, इतने में वज्रभुज ने उसे देखा। तब पल्लिपति कुपित हो कर उसको कहने लगा कि- उस समय उसने मेरा मान भंग किया था, तो अब तूं कहां जावेगा। इस प्रकार कठोर वचन कह कर उस पापी ने मुनि के चारों ओर तृण, काष्ट व पत्तों का ढेर करके पीली ज्वालाओं से आकाश को भर देने वाली आग जलाई। तब ज्यों ज्यों उनके शरीर की जलती हुई नसें सिकुड़ने लगी त्यों त्यों उनका शुभभाव पूर्ण ध्यान बढ़ने लगा।

वे विचार करने लगे कि- हे जीव! तूं ने अनन्तों बार इससे भी अनन्त गुणा दाह करने वाले नरक की अग्नि सहन की है। और तिर्यंचपन में भी हे जीव! तूं वन में जलती हुई दावानल में अनन्त बार जला है, तथापि अकाम निर्जरा से उस समय तूं कुछ भी लाभ प्राप्त नहीं कर सका। परन्तु इस समय तो तूं विशुद्ध ध्यानी, ज्ञानी और सकाम रहकर जो यह वेदना सहता है तो थोड़े ही में तुझे अनन्त गुण निर्जरा प्राप्त होगी। इसलिये हे जीव! इस अनन्त कर्मों का क्षय करने में सहायक होने वाले पल्लीपति पर केवल मित्रता भाव धारण करके तूं क्षणभर इस पीड़ा को सम्यक् रीति से सहन कर।

इस प्रकार उनका बाहिरी शरीर अग्नि में जलते हुए और भीतर शुभ भाव रूप अग्नि से कर्म रूप वन को जलाते हुए राजर्षि पुरंदर अंतगड केवली हुए।

अब वज्रभुज के किये हुए इस महा पाप की उसके परिजन को खबर पड़ने पर उन्होंने उसे निकाल बाहर किया। तब वह अकेला भागता हुआ रात्रि को अंधेरे कुए में गिर पड़ा। वहां नीचे तली में गड़े हुए मजबूत खैर के खीले से उसका पेट बिंध गया, जिससे वह दुःखित हो रौद्र ध्यान करता हुआ सातवीं नरक में गया।

जिस स्थान में पुरंदर राजर्षि सिद्ध हुए उस स्थान पर देवों ने हर्षित होकर गंधोदक बरसा कर अति महिमा करी। और बंधुमती ने भी अति शुद्ध संयम पालकर निर्मल ज्ञान दर्शन पाकर परमानन्द को प्राप्त किया।

इस प्रकार गुणराग से पुरन्दर राजा को प्राप्त हुआ वैभव जानकर हे गुणशाली भव्यो ! तुम आदर करके तुम्हारे हृदय में गुणराग ही को धारण करो।

इस भांति पुरन्दर राजा का चरित्र संपूर्ण हुआ।

इस प्रकार गुणरागित्व रूप बारहवें गुण का वर्णन किया अब सत्कथ नामक तेरहवें गुण का अवसर है। उसको उसके विपर्यय याने असत्कथपन में होने वाले दोषों का दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं:—

नासइ विवेगरयणं—असुहकहासंगकलुसियमणस्स।
धम्मो विवेगसारु त्ति—सक्कहो हुज्ज धम्मत्थी ॥२०॥

मूल का अर्थ—अशुभ कथा के प्रसंग से कलुषित हुए मन वाले का विवेक रत्न नष्ट हो जाता है, और धर्म तो विवेक प्रधान है। इससे धर्मार्थी पुरुष ने सत्कथ होना चाहिये।

टीका का अर्थः-विवेक याने भली बुरी अथवा खरी खोटी वस्तु का परिज्ञान। वह अज्ञान रूप अंधकार का नाशक होने से रत्न माना जाता है। वह विवेक रत्न अशुभ कथाओं याने स्त्री आदि की वातो में संग याने आसक्ति, उससे कलुषित हुआ है मन याने अन्तःकरण जिसका, वैसे पुरुष के पास से नष्ट होता है याने दूर हो जाता है। अर्थात् यहां यह तात्पर्य है कि- विकथा में प्रवृत्त प्राणी योग्य अयोग्य का विवेक नहीं कर सकता अर्थात् स्वार्थ हानि का भी लक्ष्य नहीं कर सकता, रोहिणी के समान।

धर्म तो विवेक सार ही है याने कि हिताहित के ज्ञानपूर्वक ही होता है, (मूल गाथा में निश्चयवाचक पद नहीं तो भी) प्रत्येक वाक्य सावधारण होने से (यहां अवधारण समझ लेना चाहिये) इस हेतु से सत् याने शोभन अर्थात् तीर्थंकर गणधर और महर्षियों के चरित्र संबंधी कथा याने बातचीत जो करता है वह सत्कथ कहलाता है, इसलिये धर्मार्थी याने धर्म करने की इच्छा रखने वाले पुरुष ने वैसा ही सत्कथ होना चाहिये कि- जिससे वह धर्मरत्न के योग्य हो सके।

रोहिणी का उदाहरण इस प्रकार है:—

यहां न्याय की रीति से शोभित कुण्डिनी नामकी विशाल नगरी थी। वहां जितशत्रु नामक राजा था। वह दुर्जनों का तो शत्रु ही था। वहीं सुदर्शन नामक सेठ था। वह प्रायः विकथा से विरक्त हो सत्कथगुण रूप रत्न का रोहणाचल समान था।

उसकी मनोरमा नामक भार्या थी। उसकी पूर्ण गुणवती रोहिणी नामक बालविधवा पुत्री थी। वह जिन सिद्धान्त के अर्थ को पूछकर अवधारण करके समझी हुई थी। वह त्रिकाल जिनपूजा करती। सफल पाठ करती। तथा नित्य निश्चिन्तता से आवश्यक आदि कृत्य करती थी। वह धर्म का संचय करती। किसी को ठगती नहीं, गुरुजनों के चरण पूजती और कर्मप्रकृति आदि ग्रंथों को अपने नाम के समान विचारती थी।

वह श्रेष्ठ दान देती, गंगाजल के समान उज्ज्वल शील धारण करती, यथाशक्ति तप करती और शुद्ध मन रखकर शुभ भावनाओं का ध्यान करती थी इस प्रकार वह निर्मल गृहिधर्म पालती, सम्यक्त्व में अचल रहती, मोह को बलपूर्वक तोड़ती और सच्चे जिनमत को प्रकट करने में कुशल रहती हुई दिवस व्यतीत करती थी।

अब इधर चित्तवृत्ति रूप वन में निखिल जगत् को दबाकर रखने में अतिशय प्रचंड मोह नामक राजा निष्कंटक राज्य पालता था। उसने किसी समय अपने दूत के मुख से सुना कि रोहिणी उसके दोष प्रकट करने में प्रवीण रहती है। यह सुनकर वह अति उद्विग्न हुआ। वह सोचने लगा कि- देखो, यह अति कपटी सदागम से भ्रमित चित्त वाली रोहिणी हमारे दोष प्रकट करने में कितना भाग लेती है? अब जो यह और कुछ समय इसी प्रकार करती रहेगी तो हमारा सत्यानाश कर देगी व कोई हमारी धूल भी नहीं देख सकेगा।

वह इस तरह विचार कर ही रहा था कि इतने में रागकेशरी नामक उसका पुत्र वहां आ पहुँचा। उसने इसे नमन किया, किन्तु मोह राजा इतना चिन्तामग्न हो गया था कि उसे उसका

भान न रहा। तब रागकेशरी बोला कि– हे तात ! आप इतनी चिन्ता क्यों करते हो ? क्योंकि मैं तो आपका सारे विश्व में कुछ भी सम विषम होता नहीं देख सकता। तब मोहराजा ने उसको रोहिणी का यथास्थित वृत्तान्त कह सुनाया। जिसे सुन वह सिर में वज्राहत हुआ हो उस भांति उदास हो गया।

तब मोह राजा का समस्त सैन्य भी फूल, तांबूल तथा नृत्य गातादिक कार्य छोड़कर बिना प्रस्ताव ही उदासीन हो गया। इतने में एक बालक तथा एक स्त्री अट्टहास से हंसने लगे, जिसे मोह राजा ने सुना। तब अतिशय क्रोध से दीर्घ निश्वास छोड़कर वह सोचने लगा कि– मेरे दुःखी होते हुए कौन इस प्रकार सुखी रहकर आनन्द उड़ाता है। तब दुष्टाभिसंधि नामक मंत्री अपने कुपित स्वामी का अभिप्राय जानकर सावधान हो इस प्रकार विनंती करने लगा।

हे देव ! राज कथा—स्त्री कथा—देश कथा और भोजन कथा रूप चार मुखवाली और योगिनी के समान जगत् के लोगों को मोहित करने वाली यह विकथा नामक मेरी स्त्री है। इसी भांति यह बालक मेरा अत्यन्त प्रिय प्रमाद नामक पुत्र है। अब ये अकारण क्यों हंसे सो आप ही इनसे पूछिए। तब चिल्लाकर मोह राजा ने उनको पूछा कि– तुम क्यों हंसे ? तब वह स्त्री बोलने लगी कि–हे पूज्य ! आप भली प्रकार सुनिये।

बालक से भी हो सके ऐसे कार्य में आप इतनी चिन्ता क्यों करते हो ? इसीसे विस्मित होकर मैं व मेरा पुत्र हंसे हैं। आपकी कृपा हो तो इस रोहिणी को आधे क्षण में धर्मभ्रष्ट करने को मैं समर्थ हूँ। मेरे सन्मुख यह बिचारी किस गिनती में है। जो उपशान्त कषायी और मनःपर्यवज्ञानी हुए हैं वैसे

कईयों को मेरे पुत्र के साथ रहकर चारित्र से भ्रष्ट किये हैं। उनकी संख्या ही कौन कर सकता है ? तथा मैंने जो चौदह-पूर्विओं को भी धर्म से डिगा दिये हैं। वे अभी तक आपके चरणों में धूल के समान लौटते हैं।

यह सुन मोह राजा सोचने लगा कि-मैं धन्य हूँ कि-मेरे सैन्य में स्त्रियां भी ऐसी जगद्विजय करने वाली हैं। यह सोचकर मोह राजा ने उसे उसके पुत्र के साथ अपने हाथ से बीड़ा दिया तथा हर्षित हो उसका सिर चूमा। पश्चात् वह बोला कि-मार्ग में तुझे कुछ भी विघ्न न हो, तेरे पीछे तुरन्त ही दूसरा सैन्य आ पहूँचेगा। यह कह उसे विदा किया। वह रोहिणी के समीप आ पहुँची।

अब उस योगिनी के उसके चित्त में प्रवेश करने से वह (रोहिणी) जिन मंदिर में जाकर भी भिन्न २ श्राविकाओं के साथ अनेक प्रकार की विकथाएं करने लगी। उसने जिनपूजा करना छोड़ दिया। प्रसन्न मन से देववंदन छोड़ दिया और अनेक रीति से बकबक करती हुई दूसरों को भी बाधक हो गई।

श्रीमन्त की लड़की होने से कोई भी उसे कुछ कह नहीं सकता था। जिससे वह विकथा में अतिशय लीन होकर स्वाध्याय ध्यान से भी रहित होने लगी। तब एक श्रावक ने उसे कहा कि-हे बहिन ! तू अत्यन्त प्रमत्त होकर धर्मस्थान में भी ऐसी बातें क्यों करती है ? क्योंकि जिनेश्वर ने भव्यजनों को विकथाएं करने का सदा निषेध किया है। वह इस प्रकार है कि- अमुक स्त्री सौभाग्यशाली, मनोहर, सुन्दर नेत्रवाली तथा भोगिनी है। उसकी कटि मनोहर है। उसका कटाक्ष

मनोहर है। अमुक स्त्री को धिक्कार हो, क्योंकि उसकी चाल ऊंट के समान है। वह मलीन शरीर वाली है। उसका स्वर कौए के समान है। वह दुर्भागिनी है। इस भांति स्त्री की प्रशंसा व निन्दा करने की बातें धर्मार्थी पुरुष ने नहीं करनी चाहिये।

अहो! खीर में जो मधुर मधु, गौघृत और शर्करा (शक्कर) डालें तो कैसा सरस होता है? दही रस तो सबसे श्रेष्ठ है। शाकों के अतिरिक्त मुख को सुखकर अन्य क्या हो सकता है? पक्वान्न के बिना अन्य कौन मन को प्रसन्न करता है? तांबूल का स्वाद निराला ही है। इस प्रकार खाने पीने के संबन्ध की बातें चतुर मनुष्यों ने सदैव त्याग करना चाहिये।

मालवा तो धान्य और सुवर्ण का भंडार है। कांची का क्या वर्णन किया जाय। उद्भट् सुभटों वाली गुजरात में तो फिरना ही मुश्किल है। लाट तो किराट-के समान है। सुख निधान काश्मीर में रहना अच्छा है। कुंतल देश तो स्वर्ग समान है ऐसी देश कथा बुद्धिमान पुरुष ने दुर्जन के संग समान त्यागना चाहिये।

यह राजा शत्रु समूह को दूर करने में समर्थ है। प्रजाहितैषी है और चोरों को मारने वाला है। उन दो राजाओं का भयंकर युद्ध हुआ। उसने इसको ठीक बदला दिया। यह दुष्ट राजा मर जाय तो अच्छा। इस राजा को मैं अपना आयुष्य अर्पण करके कहता हूं कि, यह चिरकाल राज्य करे। इस प्रकार की महान् कर्मबंध की कारण राजकथा को पंडितों ने त्यागना चाहिये।

वैसे ही शृंगार रस उत्पन्न करने वाली मोह पैदा करने वाली हास्य क्रीड़ा उत्पादक और परदोष प्रकट करने वाली

बात (कथा) भी नहीं बोलना । इसलिये जिनेश्वर गणधर और मुनि आदि की सत्कथा रूप तलवार द्वारा विकथा रूप लता को काटकर धर्म ध्यान में हे बहिन ! तूं लीन हो ।

तब वह बोली कि-हे भाई ! पितृगृह (पीहर) के समान जिनगृह में आकर अपनी २ सुख दुख की बातें करके क्षणभर स्त्रियां सुखी होवें उसमें क्या बाधा है ? बातों के लिये कोई किसी के घर मिलने नहीं जाती । इसलिये कृपा कर तुमने मुझे कुछ भी न कहना चाहिये । तब उसे सर्वथा अयोग्य जानकर वह श्रावक चुप हो गया । इधर रोहिणी भी बहुत विलंब से घर आई तो उसके पिता ने उसे कहा हे पुत्री ! लोक में तेरी विकथा के विषय में बहुत चर्चा चल रही है । यह ठीक नहीं । क्यों कि—सत्य हो अथवा असत्य किन्तु लोकवाणी महिमा का नाश करती है ।

स्पष्ट बोलने में आती हुई लोकवाणी विरुद्ध अथवा सत्य वा असत्य हो तो भी सर्व जगह महिमा को हर लेती है देखो सकल अंधकार का नाश करने वाला सूर्य तुला से उतर कर भी जब कन्या राशि में गमन करता है तब कन्यागामी कहलाने से उसका वैसा तेज नहीं रह सकता ।

इसलिये हे पुत्री ! जो तूं सुख चाहती हो तो मुक्ति से प्रतिकूल वर्त्ताव करने वाली और नरक के मार्ग समान पर-निन्दा छोड़ दे । जो तूं फक्त एक काम से अखिल जगत् को वश करना चाहती हो तो परापवाद रूप घास में चरती हुई तेरी वाणी रूप गाय को रोक रख । जितना परगुण और परदोष कहने में अपना मन लगा रहता है उतना जो विशुद्ध ध्यान में रुकता होय तो कितना लाभ होवे ?

तब रोहिणी बोली कि हे पिता ! जो ऐसा हो तो प्रथम तो आगम ही बाधित होगा क्योंकि इसी के द्वारा पर के दोष और गुण की कथा प्रारंभ होती है। इस जगत् में सर्वथा मौन धारण करने वाला कौन है ? जैसे कि- ये महर्षिगण भी विशिष्ट चेष्टा करते हुए दूसरों के चरित्र कहा करते हैं। इत्यादि गोलमाल बोलती हुई सुनकर पिता ने भी उसकी अवगणना करी। वैसे ही गुरु आदि ने भी उसकी उपेक्षा करी। जिससे वह स्वच्छन्द होकर फिरने लगी।

अब एक समय वह राजा की पटरानी के शील के सम्बन्ध में विरुद्ध बात करने लगी। वह रानी की दासी ने सुनकर रानी से कही व रानी ने राजा को कही। जिससे राजा ने क्रोधित हो उसके बाप को उपालंभ दिया कि- तेरी पुत्री हमारे विषय में भी ऐसा कुवचन बोलती है। सेठ बोला कि- हे देव ! वह हमारा कहना नहीं मानती है। तब राजा ने उसकी खूब विटंबना करके उसे देश से निकल जाने का हुक्म किया।

तिर्यंच के बहुत से भव कर अनन्त काल निगोद में भटक कर क्रमशः मनुष्य भव पाकर उक्त रोहिणी मोक्ष को पहुँची।

अब उक्त सुभद्र सेठ अपनी पुत्री की विटम्बना देखकर महा वैराग्य पा दीक्षा ले, पाप का शमन कर तप, चारित्र, स्वाध्याय तथा सत्कथा में प्रवृत्त रह, प्रमाद को दूर कर विकथाओं से विरक्त रह क्रमशः सुख भाजन हुआ।

इस प्रकार जो प्राणी विकथा में लगे रहते हैं, उनको होने वाले अनेक दुःख जानकर भव्य जनों ने वैराग्यादिक परिपूर्ण व निर्दोष सत्कथा ही सदैव पढ़ना (करना) चाहिये।

इस प्रकार रोहिणी का दृष्टान्त पूर्ण हुआ।

अणुकूल धम्मसीलो—सुसमायारो य परियणो जस्स।
एस सुपक्खो धम्मं— नरंतरायं तरइ काउं ॥२१॥

मूल का अर्थ- जिसका परिवार अनुकूल और धर्मशील होकर सदाचार युक्त होता है, वह पुरुष सुपक्ष कहलाता है। वह पुरुष निर्विघ्नता से धर्म कर सकता है।

टीका का अर्थ- यहां पक्ष, परिवार व परिकर ये शब्द एक ही अर्थ वाले हैं। जिससे शोभन पक्ष याने परिवार जिसका हो वह सुपक्ष कहलाता है। यही बात विशेषता से कहते हैं:—

अनुकूल याने धर्म में विघ्न न करने वाला— धर्मशील याने धार्मिक, और सुसमाचार याने सदाचार परायण—परिजन याने परिवार हो जिसका वह सुपक्ष कहलाता है। ऐसा सुपक्षवाला पुरुष धर्म को निरंतरायपन से याने निर्विघ्नता से करने को याने अनुष्ठित करने को समर्थ होता है, भद्रनंदी कुमार के [illegible]न।

तात्पर्य यह है कि—अनुकूल परिवार धर्मकार्य में उत्साह वर्धक व सहायक रहता है। धर्मशील परिवार धर्मकार्य में लगाने पर अपने पर दबाव डाला गया ऐसा नहीं मानकर अनुग्रह हुआ मानते हैं। सुसमाचार परिवार राज्यविरुद्ध आदि अकार्य परिहारी होने से धर्मलघुता का हेतु नहीं होता। इसलिये ऐसे प्रकार का सुपक्ष वाला पुरुष ही धर्माधिकारी हो सकता है।

भद्रनंदी कुमार की कथा इस प्रकार है।

हाथी के मुख समान सुरत्नों से सुशोभित ऋषभपुर नामक नगर था। उसके ईशान्य कोण में स्तूप करंड नामक उद्यान था। उस उद्यान में सर्व ऋतुओं में फलने वाले अनेक वृक्ष थे। वहां पूर्णनाग नामक परिकर धारी यक्ष का वहु जनमान्य चैत्य था।

उस नगर को, मालती लता को जैसे माली पालन करता है वैसे प्रवर गुणशाली धनावह नामक नृपति हल्के कर द्वारा पालन करता था। उसके हजार रानियां थी। उनमें सबसे श्रेष्ठ अखंडित शील पालन करने वाली और मधुर भाषिणी सरस्वती नामक रानी थी। उसने किसी समय रात्रि को स्वप्न में अपने मुख में सिंह घुसता हुआ देखा। तदनन्तर जागकर राजा के समीप जा उसने सम्यक् प्रकार से उक्त स्वप्न कह सुनाया। राजा ने कहा कि—तेरे राज्य भार उठाने वाला पुत्र होगा। तब 'तथास्तु' कह कर वह रतिभवन में आ शेष रात्रि व्यतीत करने लगी।

प्रातःकाल होते ही हर्षित हो नहा धोकर अलंकार धारण कर सिंहासनारूढ़ हो राजा ने स्वप्न शास्त्र के ज्ञाताओं को बुलाया।

तिर्यंच के बहुत से भव कर अनन्त काल निगोद में भटक कर क्रमशः मनुष्य भव पाकर उक्त रोहिणी मोक्ष को पहुँची।

अब उक्त सुभद्र सेठ अपनी पुत्री को विडम्बना देखकर महा वैराग्य पा दीक्षा ले, पाप का शमन कर तप, चारित्र, स्वाध्याय तथा सत्कथा में प्रवृत्त रह, प्रमाद को दूर कर, विकथाओं से विरक्त रह क्रमशः सुख भाजन हुआ।

इस प्रकार जो प्राणी विकथा में लगे रहते हैं, उनको होने वाले अनेक दुःख जानकर भव्य जनों ने वैराग्यादिक परिपूर्ण व निर्दोष सत्कथा ही सदैव पढ़ना (करना) चाहिये।

इस प्रकार रोहिणी का दृष्टान्त पूर्ण हुआ।

अणुकूल धम्मसीलो—सुसमायारो य परियणो जस्स।
एस सुपक्खो धम्मं— नरंतरायं तरइ काउं ॥२१॥

मूल का अर्थ- जिसका परिवार अनुकूल और धर्मशील होकर सदाचार युक्त होता है, वह पुरुष सुपक्ष कहलाता है। वह पुरुष निर्विघ्नता से धर्म कर सकता है।

टीका का अर्थ- यहां पक्ष, परिवार व परिकर ये शब्द एक ही अर्थ वाले हैं। जिससे शोभन पक्ष याने परिवार जिसका हो वह सुपक्ष कहलाता है। वही बात विशेषता से कहते हैं:—

अनुकूल याने धर्म में विघ्न न करने वाला— धर्मशील याने धार्मिक, और सुसमाचार याने सदाचार परायण—परिजन याने परिवार हो जिसका वह सुपक्ष कहलाता है। ऐसा सुपक्षवाला पुरुष धर्म को निरंतरायपन से याने निर्विघ्नता से करने को याने अनुष्ठित करने को समर्थ होता है, भद्रनंदी कुमार के समान।

तात्पर्य यह है कि:—अनुकूल परिवार धर्मकार्य में उत्साह वर्धक व सहायक रहता है। धर्मशील परिवार धर्मकार्य में लगाने पर अपने पर दबाव डाला गया ऐसा नहीं मानकर अनुग्रह हुआ मानते हैं। सुसमाचार परिवार राज्यविरुद्ध आदि अकार्य परिहारी होने से धर्मलघुता का हेतु नहीं होता। इसलिये ऐसे प्रकार का सुपक्ष वाला पुरुष ही धर्माधिकारी हो सकता है।

भद्रनंदी कुमार की कथा इस प्रकार है।

हाथी के मुख समान सुरत्नों से सुशोभित ऋषभपुर नामक नगर था। उसके ईशान्य कोण में स्तूप करंड नामक उद्यान था। उस उद्यान में सर्व ऋतुओं में फलने वाले अनेक वृक्ष थे। वहां पूर्णनाग नामक परिकर धारी यक्ष का बहु जनमान्य चैत्य था।

उस नगर को, मालती लता को जैसे माली पालन करता है वैसे प्रवर गुणशाली धनावह नामक नृपति हलके कर द्वारा पालन करता था। उसके हजार रानियां थी। उनमें सबसे श्रेष्ठ अखंडित शील पालन करने वाली और मधुर भाषिणी सरस्वती नामक रानी थी। उसने किसी समय रात्रि को स्वप्न में अपने मुख में सिंह घुसता हुआ देखा। तदनन्तर जागकर राजा के समीप जा उसने सम्यक् प्रकार से उक्त स्वप्न कह सुनाया। राजा ने कहा कि—तेरे राज्य भार उठाने वाला पुत्र होगा। तब 'तथास्तु' कह कर वह रतिभवन में आ शेष रात्रि व्यतीत करने लगी।

प्रातःकाल होते ही हर्षित हो नहा धोकर अलंकार धारण कर सिंहासनारूढ़ हो राजा ने स्वप्न शास्त्र के ज्ञाताओं को बुलाया।

तब वे भी शीघ्र नहा धो कौतुक मंगल कर वहां आ राजा को जय-विजय शब्द से बधाई देकर सुख से बैठे। पश्चात् राजा, रानी को परदे में भद्रासन पर बिठा फूल फल हाथ में धर उनको उक्त स्वप्न कहने लगा।

वे शास्त्र विचार कर राजा से कहने लगे कि, शास्त्र में बयालीस जाति के स्वप्न और तीस जाति के महा स्वप्न कहे हुए हैं। जिनेश्वर और चक्रवर्ती की माताएं हाथी आदि चौदह स्वप्न देखती हैं। वासुदेव की माता सात देखती है। बलदेव की माता चार देखती है और मांडलिक राजा की माता एक देखती है। रानी ने स्वप्न में सिंह देखा है। जिससे पुत्र होगा और वह समय पाकर या तो राज्यपति राजा होगा अथवा मुनि होगा।

राजा ने उनको बहुत सा प्रीतिदान देकर विदा किया। पश्चात् रानी उत्तम दोहदा पूर्ण करती हुई गर्भ वहन करने लगी। उसने समय पर पूर्व दिशा जैसे सूर्य को प्रकट करती है वैसे ही कान्तिवान् पुत्र का प्रसव किया। तब राजा ने बड़ी धूमधाम से उसकी बधाई कराई। वह भद्रकारी और नंदीकारी होने से उसका नाम भद्रनंदी रखा गया। वह पर्वत की गुफा में उगे हुए वृक्ष के समान पांच धात्रियों के हाथ में रहकर बढ़ने लगा।

समयानुसार वह सर्व कलाओं में कुशल हुआ और उसका तमाम परिजन उसके अनुकूल रहने लगा। इस प्रकार वह परिपूर्ण और पवित्र लावण्य रूप जल के सागर समान यौवन वय को प्राप्त हुआ। तब राजा ने उसके लिये पांच सौ महल बांधकर उसका श्री देवी आदि पांच सौ राजपुत्रियों से विवाह किया। उनके साथ वह किसी भी प्रकार की बाधा बिना दिव्य

देव भुवन के अंदर स्थित दोगुंदक देव के समान विषय सुख भोगने लगा।

वहां स्तूपकरंड उद्यान में एक समय भगवान् वीर प्रभु पधारे। उसी समय समाचार देनेवाले ने शीघ्र जाकर राजा को बधाई दी। राजा ने उसे साढे बारह लाख प्रीतिदान दिया। पश्चात् कोणिक के समान वह वीर प्रभु को वन्दना करने के लिये रवाना हुआ।

भद्रनंदी कुमार भी बाजे गाजे से चलता हुआ धर्मशील परिवार सहित, उत्तम रथ पर चढ़कर वीर प्रभु को नमन करने के लिये आया। कुमार की प्रीति के कारण अन्य भी बहुत से कुमार परिजन सहित प्रभु को वन्दना करने के लिये चले। वे वहां आकर जिन प्रभु को नमन कर धर्म सुनने लगे। वीर प्रभु ने भी उनको 'जीव किस प्रकार कर्म से बंधते हैं और किस प्रकार छूटते हैं' यह विषय कह सुनाया।

जिसे सुन, भद्रनंदी आनन्दित मन से वीर प्रभु से सम्यक्त्व मूल निर्मल गृही-धर्म स्वीकार कर अपने स्थान को आया।

इस अवसर पर गौतम स्वामी दुःख शमन करने वाले महावीर प्रभु को पूछने लगे कि-हे प्रभु! यह भद्रनंदी कुमार देव के समान रूपवान है। चन्द्र के समान सौम्य मूर्तिमान है। सौभाग्य का निधान है। सकल जन को प्रिय है और साधुओं को भी विशेष करके सम्मत है। यह कौन से कर्म से ऐसा हुआ है।

जिनेश्वर बोले कि-यह महाविदेह क्षेत्र में पुंडरीकिणी नगरी में विजय नामक कुमार था। वह सनत्कुमार के समान रूपवान था। उसने एक समय प्रवर गुण शोभित जगद्गुरु

युगबाहु जिननाथ को अपने घर की ओर भिक्षा के लिये आते देखे। तब वह तुरत बेंत के आसन से उठकर सात आठ पग सन्मुख जाकर तीन प्रदक्षिणा देकर भूमि में सिर नमा उनको वन्दना करने लगा।

पश्चात् वह बोला कि- हे स्वामी! मेरे यहां से आहार ग्रहण करके मुझ पर अनुग्रह करीए। तब द्रव्यादिक का उपयोग कर जिनराज ने हाथ चौड़ा किया। अब वह विजयकुमार हर्ष से रोमांचित हो, विकसित नेत्र और हंसते मुख कमल से परम भक्ति पूर्वक उत्तम आहार वहोरा कर अपने को कृतकृत्य मानने लगा।

चित्त, वित्त और पात्र ये तीनों एक साथ मिलना दुर्लभ है। उसने उनको प्राप्त करके उस समय भगवान् को प्रतिलाभित किये। उसका यह फल है।

उसने उसीसे पुण्यानुबंधि पुण्य, उत्तम भोग, सुलभ बोधित्व और मनुष्य का आयुष्य बांधा। वैसे ही संसार को भी परिमित किया है। इस समय उसके वहां पांच दिव्य प्रगट हुए वे इस प्रकार कि- देव दुंदुभि बजने लगी। देवों ने वस्त्रों की, सोने की और पांच वर्ण के फूल की वृष्टि करी और आकाश में " अहो सुदानं, अहो सुदानं " की उद्घोषणा की।

सम्यक् रीति से समाहित होकर वह श्रमण होवेगा। तदनन्तर भगवान ने अन्यत्र विहार किया, और कुमार अनुकूल, विनीत व धर्मशील परिवार युक्त होकर श्रावक धर्म का पालन करने लगा।

एक समय उसने अष्टमी आदि पर्व दिवसों में पौषध शाला में जा उच्चार प्रश्रवण की भूमियों को देख, प्रमार्जनकर, दर्भ का आसन बिछा, उस पर बैठकर अष्टम भक्तवाला पौषध किया। उक्त अष्टम पौषध के पूरा होने को आने पर जिनपद-भक्त कुमार पिछली रात्रि को यह विचारने लगा।

उन ग्रामों और नगरों को धन्य है, उन खेड़ों खंखाड़ों व मंडप प्रदेशों को धन्य है कि जहां मिथ्यात्वरूप अंधकार को हरण करने में सूर्य समान वीर भगवान विचरते हैं। और जो उक्त भगवान का उपदेश सुनकर चारित्र ग्रहण करते हैं। उन राजाओं राजकुमारों आदि को धन्य है। यदि वे ही त्रैलोक्य बंधु वीर प्रभु यहां पधारें तो मैं उनसे मनोहर संयम ग्रहण करूं। उसका यह अभिप्राय जानकर वीर प्रभु भी प्रातःकाल होते ही वहां पधारे। तब भद्रनंदी के साथ राजा वहां आया। वे राजा व कुमार जिन प्रभु को नमन करके उचित स्थान पर बैठ गये। तब वीर प्रभु नवीन मेघ की गर्जना के समान गंभीर स्वर से इस प्रकार उपदेश करने लगे।

हे भव्यो! इस संसार रूप रहट में अविरतिरूप घड़ों से कर्म जल ग्रहण करके चतुर्गति दुःख रूप विषवल्ली को जीव रूपी मंडप पर चढ़ाने के लिये सिंचन मत करो।

यह सुन राजा अपने गृह को आया, और कुमार ने भगवान से जाकर कहा कि- हे स्वामी! मैं माता पिता को पूछकर दीक्षा

लूंगा। भगवान ने कहा कि- प्रतिबंध मत करो। तब वह माता पिता के सन्मुख आ, नमन कर, हाथ जोड़कर कहने लगा कि- हे माता पिता ! आज मैंने वीर प्रभु से रम्य धर्म सुना है। और श्रद्धा हुई है प्रतीत हुआ है और मुझको इच्छित है।

तब वे भी अनुकूल हृदय होने से कहने लगे कि-हे वत्स ! तूं धन्य और कृतपुण्य है। इस प्रकार दो तीन बार कहने पर कुमार बोला। आप आज्ञा दें तो अब मैं दीक्षा ग्रहण करूं। यह अनिष्ट वचन सुन उसकी माता मूर्छित हो गई। उसे सावधान करने पर वह करुण विलाप करती हुई इस प्रकार दीन वचन बोलने लगी कि-हे पुत्र ! मैं ने हजारों उपायों से तेरा प्रसव किया है। तो अब मुझे अनाथ छोड़कर हे पुत्र ! तू कैसे श्रमणत्व लेगा। तब तो शोक से मेरा हृदय भरकर मेरा जीव भी निकल जायगा। इसलिये जब तक हम जीवित हैं वहां तक तूं रह। पश्चात् तेरी संतान बड़ी होने पर व हमारे कालगत हो जाने पर तूं व्रत लेना।

कुमार बोला :— मनुष्य का जीवन सैकड़ों कष्टों से भरा हुआ है, और वह बिजली के समान चंचल तथा स्वप्न सदृश है तथा आगे पीछे भी मरना तो निश्चित है। इस लिये कौन जानता है कि किस को यह अत्यंत दुर्लभ बोधि प्राप्त होगा कि नहीं ? इसलिये धैर्य धरकर हे माता ! मुझे आज्ञा दें।

माता पिता बोले:—हे पुत्र ! तेरा यह अंग अनुपम लावण्य और रूप से सुशोभित है। अतएव उसकी शोभा भोगकर वृद्ध होने पर दीक्षा लेना।

कुमार बोलाः—यह शरीर अनेक आधि-व्याधिओं का घर है और जीर्ण घर के समान (क्षणभंगुर) है। वह अंत में अवश्य गिरने वाला ही है। अतः अभी ही दीक्षा लूं तो ठीक।

माता पिता बोलेः—तूं इन कुलीन और लावण्य जल की नदियों के समान पांच सौ स्त्रियों को अनाथ कैसे छोड जावेगा?

कुमार बोलाः- विषय विषमिश्रित दूधपाक के समान हैं, व वे अशुचि से उत्पन्न होते हैं और अशुचिमय होकर दुःख रूपी वृक्ष के बीज भूत हैं। इसलिये कौन चैतन्य पुरुष उनका भोग करे।

माता पिता बोलेः- हे वत्स ! अपने वंश-परंपरा से प्राप्त हुए पवित्र धन को तू भली-भांति दान भोग कर, फिर प्रव्रज्या ग्रहण करना।

कुमार बोलाः- अग्नि जल आदि भी समान रीति ही से जिसका संहार कर सकते हैं। वैसे इस समुद्र की तरंग समान धन में कौन बुद्धिमान प्रतिबंध रखे।

माता पिता बोलेः- जैसे तलवार की तीक्ष्ण धार पर नंगे पैर चलना यह दुष्कर काम है। वैसे ही हे पुत्र ! व्रत-पालना दुष्कर है और उसमें भी तेरे समान अति सुखी को तो वह विशेष करके दुष्कर है।

कुमार बोलाः- क्लीव (पुरुषत्वहीन), कायर (डरपोक) और विषयों में तृषित रहने वाले को ये दुष्कर हैं, परन्तु परम उद्यमी को तो सब साध्य है।

अब राजा ने उसका दृढ़ निश्चय देख उसे एक दिन तक राज्य पालने के लिये राज्याभिषेक कर पूछा कि- अब तुझे क्या ला दिया जाय?

कुमार बोलाः– रजोहरण और पात्र ला दीजिए। तब राजा ने कुत्रिकापण (सर्व वस्तुएँ संग्रह करने वाले की दुकान) से दो लक्ष मूल्य से (रजोहरण और पात्र) मंगवाये। लक्ष (मुद्रा) देकर नापित (नाई) को बुला राजा ने उसको कहा कि– दीक्षा में लोचने पड़ें उतने केश छोड़कर कुमार के शेष केश काट ले, उसने वैसा ही किया।

उन केशों को उसकी माता ने श्वेत वस्त्र में ग्रहण कर अर्चा-पूजा करके, बांधकर रत्न के डब्बे में रखकर अपने सिरहाने धरा। पश्चात् राजा ने उसे सुवर्ण कलश से स्नान करा कर अपने हाथ से उसका अंग पोंछकर चन्दन का लेप किया। अनन्तर उसे दो वस्त्र पहिना कर कल्पवृक्ष के समान उसे आभूषणों से विभूषित किया। पश्चात् सौ स्तंभ वाली उत्तम पालखी बनवाई।

उस पर आरूढ़ होकर कुमार सिंहासन पर पूर्व दिशा की ओर मुख रखकर बैठा और उसको दाहिनी ओर भद्रासन पर उसकी माता बैठी। उसकी बाईं ओर उसकी धायमाता रजोहरणादिक लेकर बैठी और एक श्रेष्ठ युवती छत्र लेकर उसके पीछे खड़ी रही उसके दोनों ओर दो चामर वाली व उसके पूर्व की ओर पंखा धारण करने वाली तथा ईशान की ओर कलश धारिणी खड़ी रही। पश्चात् समान रूपवान, समान यौवनवान्, समान शृंगारवान हर्षित मनस्क एक सहस्त्र राजकुमारों ने उस पालखी को उठाई।

उस पालखी के आगे भलीभांति सजाये हुए अष्ट मंगल चलने लगे तथा उनके साथ सजाये हुए आठ सौ घोड़े, आठ सौ हाथी और आठ सौ रथ चलने लगे। उनके पीछे बहुत से तलवार, लाठी, भाले तथा ध्वज चिह्न (झंडे) उठाने वाले चले। उनके साथ बहुत से भाट–चारण जय जय शब्द करते हुए चले।

अब कुमार कल्पवृक्ष के समान याचकों को दक्षिण हाथ से दान देने लगा। सब कोई अंजलि बांधकर उसे प्रणाम करने लगे तथा मार्ग में वह सहस्रों अंगुलियों से परिचित होने लगा। सहस्रों आंखों से देखा गया। सहस्रों हृदयों से अधिकाधिक चाहा गया और सहस्रों वचनों से वह प्रशंसित होने लगा। इस प्रकार वह समवसरण तक आ पहुँचा।

वहां आ, पालखी से उतर, भक्तिपूर्वक जिनेश्वर के समीप जा, तीन प्रदक्षिणा दे, परिवार सहित कुमार वीर प्रभु को वन्दना करने लगा। उसके माता पिता भगवान को वन्दना करके कहने लगे कि- यह हमारा इकलौता प्रिय पुत्र है। यह जन्म, जरा व मरण से भयभीत होकर आपके पास निष्क्रांत होना चाहता है। अतः हम आपको यह सचित्त भिक्षा देते हैं। हे पूज्यवर ! अनुग्रह करके उसे ग्रहण करिये।

भगवान बोले कि - प्रसन्नता से दो। तत्पश्चात् भद्रनंदी कुमार ने ईशान कोण में जा, अपने हाथ से अलंकार उतार कर पांच मुष्टि से अपने केश लुंचित किये। उन केशों को उसकी माता अश्रु टपकाती हुई हंसगर्भ वस्त्र में ग्रहण करने लगी।

माता बोली कि- हे पुत्र ! इस विषय में अब तूं प्रमाद मत करना। यह कहकर माता पिता अपने स्थान को आये और कुमार भी जिनेन्द्र के सन्मुख जाकर कहने लगा कि- हे भगवन् ! इस जरा व मरण द्वारा जले बले हुए लोक में उसको नाश करने वाली भगवती दीक्षा मुझे दीजिये।

तब जिनेश्वर ने उसे विधिपूर्वक दीक्षा दी व स्वमुख से उसे शिक्षा दी कि- हे वत्स ! तूं यत्न पूर्वक सकल क्रियाएँ करना।

यही इच्छा करता हूँ । ऐसे बोलते हुए कुमार को फिर भगवान ने स्थविरों के सुपुर्द किया । उनके पास उसने तपश्चरण में लीन रहकर ग्यारह अंग सीखे । पश्चात् वह चिरकाल व्रत पालन कर, एक मास की संलेखना कर, आलोचना कर व प्रतिक्रमण करके सौधर्म देवलोक में श्रेष्ठ देव हुआ ।

वहां सुख-भोग भोग कर, आयु क्षय होने पर वहां से च्यवकर उत्तम कुल में जन्म ले, गृही-धर्म पालन कर, प्रव्रज्या धारण कर सनत्कुमार देवलोक में वह जावेगा । इस प्रकार ब्रह्म देवलोक में, शुक्र देवलोक में, आनत देवलोक में और अंत में सर्वार्थसिद्धि विमान में ऐसे देवता और मनुष्य के मिलकर चउदह भवों में वह उत्तम भोग भोग कर महाविदेह में मनुष्य जन्म लेगा ।

वहां प्रवज्या ले, कर्म क्षय कर, केवली होकर वह भद्रनंदी कुमार अनंत सुख पावेगा । इस प्रकार सुपक्ष युक्त भद्रनंदी कुमार ने निर्विघ्नता से विशुद्ध धर्म आराधन कर स्वर्गादिक में सुख पाया । इसलिये श्रावक को सुपक्ष रूप गुण की सदैव आवश्यकता है ।

इस प्रकार भद्रनंदी कुमार का उदाहरण समाप्त हुआ ।

चौदहवां गुण कहा, अब पन्द्रहवां दीर्घदर्शित्व रूप गुण कहते हैं ।

आढवइ दीहदंसी—सयलं परिणामसुंदरं कज्जं ।
बहुलाभमप्पकेसं—सलाहणिज्जं बहुजणाणं ॥ २२ ॥

अर्थ—दीर्घदर्शी पुरुष जो जो काम परिणाम में सुन्दर हो, विशेष लाभ व स्वल्प क्लेश वाला हो और बहुत लोगों के प्रशंसा के योग्य हो, वही काम प्रारम्भ करता है । प्रारंभ करता

है याने प्रतिज्ञा करता है – दीर्घ याने परिणाम में सुन्दर 'काम' इतना ऊपर से लेना अथवा दीर्घ शब्द क्रिया विशेषण के साथ जोड़ना अर्थात् दीर्घ देखने की जिसको टेव हो वह दीर्घदर्शी पुरुष है, वैसा पुरुष। सकल याने सर्व – परिणाम सुन्दर याने भविष्य में सुख देनेवाला कार्य याने काम तथा अधिक लाभवाला याने बहुत ही फायदेमन्द और अल्प क्लेश याने थोड़े परिश्रमवाला– वैसे ही बहुजनों को याने स्वजन परिजनों को अर्थात् सभ्यजनों को श्लाघनीय याने प्रशंसा करने योग्य (जो काम हो वही काम वैसा पुरुष करता है) कारण कि वैसा पुरुष इस लोक सम्बन्धी कार्य भी पारिणामिकी बुद्धि द्वारा सुन्दर परिणाम वाला जानकर ही करता है। धनश्रेष्ठि के समान — अतएव वही धर्म का अधिकारी माना जाता है।

धनश्रेष्ठी की कथा इस प्रकार है।

यहां अनेक कुतूहल युक्त मगध देश में जगत् लक्ष्मी के क्रीड़ा गृह समान राजगृह नामक विशाल नगर था। वहां बहुत से मणि रत्नों का संग्रहकर्ता, बुद्धिशाली धन नामक श्रेष्ठी था। उसकी बहुत कल्याणकारी भद्रा नामकी स्त्री थी। उनके ब्रह्मा के चार मुख समान, धनपाल–धनदेव–धनद और धनरक्षित नामक चार श्रेष्ठ पुत्र थे। उनकी क्रमशः श्री–लक्ष्मी–धना और धन्या नामकी अनुपम रूपवती चार भार्याएं थीं, वे सुखपूर्वक रहती थीं।

अब श्रेष्ठी अवस्थावान् होने से व्रत लेने की इच्छा करता हुआ विचारने लगा कि–अभी तक तो मेरे इन पुत्रों को मैंने सुखी रखा है। परन्तु अब जो कोई सारे कुटुम्ब का भार यथोचित रीति से उठा ले तो बाद में भी ये अत्यंत सुखी रह कर समय व्यतीत करेंगे। इन चारों बहूओं में से घर की

सम्हाल करने योग्य कौन सी बहू है ? हां — समझा ! जो पुण्यवाली होगी वह, वैसी कौन है सो उसकी बुद्धि पर से जान पड़ेगी क्योंकि बुद्धि पुण्य के अनुसार होती है। इसलिये इनकी मित्र, स्वजन और भाई बंधुओं के समक्ष परीक्षा लेनी चाहिये। क्योंकि कुटुम्ब की सुव्यवस्था करने ही से कोटुम्बिकों की कीर्ति होती है।

यह सोचकर उसने अपने घर में विशाल मंडप बंधवाकर भोजन के निमित्त अपने मित्र, ज्ञातिवर्ग को निमन्त्रित किया। उनको भोजन करा पान फूल देकर उनके समक्ष श्रेष्ठी ने बहूओं को बुलाया। उसने प्रत्येक बहू को पांच पांच चांवल के दाने देकर कहा। इन दानों को सम्हाल कर रखना और जब मांगू तब मुझे देना। बहूओं के उक्त बात स्वीकार करने पर श्रेष्ठी ने सम्मान पूर्वक अपने सगे संबंधियों को विदा किये। वे सब इस बात का तत्व विचारते हुए अपने अपने स्थान को गये।

इधर प्रथम बहू ने विचार किया कि श्वशुरजी मांगेगे तब हर कहीं से भी ऐसे दाने लेकर दे दूंगी, यह सोचकर उसने उन्हें फेंक दिया। दूसरी बहू ने उन्हें छीलकर खा लिया। तीसरी ने विचार किया कि श्वशुरजी के दिये हुए हैं अतः आदर पूर्वक उज्वल वस्त्र में बांध अपने आभूषण को टिपारी में रख नित्य तीनवक्त सम्हाल कर यत्न से रखे। चौथी धन्या नामक बहू ने अपने पितृगृह (पीहर) से एक सम्बन्धी को बुलाकर कहा कि– प्रतिवर्ष ये दाने बोकर बढ़ते रहें ऐसी युक्ति करना।

उसने वर्षाऋतु आने पर परिश्रम कर उन दानों को पानी से भरी हुई छोटी सी क्यारी में बोये व वे ऊग गये। तब उन सब को पुनः उखेड़ कर रोपण किये। इस प्रकार क्रमशः प्रथम वर्ष

में वे एक पाली के बराबर हुए। दूसरे वर्ष में आढक प्रमाण हुए। तीसरे वर्ष में खारी प्रमाण हुए। चौथे वर्ष में कुंभ प्रमाण हुए और पांचवें वर्ष में हजार कुंभ (कलशी) हो गये।

अब श्रेष्ठी ने पुनः स्वजन संबंधियों को भोजन कराकर उनके समक्ष बहुओं को बुलाकर उक्त चांवल के दाने मांगे।

तब पहिली श्री नामक बहू तो वह बात ही भूल गई थी। अतः जैसे वैसे याद करके कहीं से लाकर उसने पांच दाने दिये। तब श्वसुर के सौगन्द देकर पूछने पर उसने कह दिया कि- हे तात ! मैंने उन्हें फेंक दिया था।

इसी प्रकार दूसरी बहू बोली कि- मैं तो उनको खा गई थी, तीसरी धना नामकी बहू ने वे आभूषण की टिपारी में से निकाल कर दे दिये। अब श्रेष्ठी ने अति भाग्यशालिनी धन्या नामक चौथी बहू से वे दाने मांगे, तब वह विनय पूर्वक कहने लगी कि- हे तात ! वे दाने इस इस भांति से अब बहुत बढ़ गये हैं, हे तात ! इस प्रकार बोये हुए ही वे सुरक्षित रखे कहलाते हैं, वृद्धि किये बिना रख छोड़ना किस कामका ? इसलिये अभी वे मेरे पिता के घर बहुत से कोठों में रखे हुए हैं, सो आप गाड़ियां भेजकर मंगवा लीजिए।

तब अपना अभिप्राय प्रकट करके श्रेष्ठी ने स्वजन संबंधियों से पूछा कि- अब यहां क्या करना उचित है ? वे बोले कि- यह बात तुम्हीं जानते हो।

तब श्रेष्ठी बोला कि-पहिली बहु उज्झन शील होने से मैं उसका उज्झिता नाम रखता हूँ और उसने हमारे घर में छाण वासीदा करने का (गृह कर्म) काम करना चाहिये।

दूसरी का उसके आचरणानुसार मैं भोगवती नाम रखता हूँ और उसने रांधने, खांडने तथा पीसने दलने का काम करना चाहिये।

तीसरी ने चांवल के दाने सम्हाल कर रखे, इससे उसका रक्षिता नाम रखता हूँ और उसे मणि, सुवर्ण, रत्न आदि भंडार सम्हालने का कार्य करना चाहिये।

चौथी ने चावल के दाने बोवाये इसलिये उसका नाम रोहिणी रखता हूँ। वह पुण्यशालिनी होने से इन तीनों बहूओं पर देखरेख रखने वाली रहे व इसकी आज्ञा का सबको पालन करना पड़ेगा।

इस प्रकार दीर्घदर्शी होकर वह धन श्रेष्ठी कुटुम्ब को स्वस्थ कर निर्मल धर्म कर्म का आराधक हुआ। तथा इस विषय में ज्ञात धर्म कथा नामक छट्ठे अंग में रोहिणी के ज्ञात में सुधर्म स्वामी ने बहुत विस्तार से इस प्रकार दूसरा उपनय भी बताया है। जो धन श्रेष्ठी सो तो गुरु जानो, जो ज्ञातिजन सो श्रमण संघ, जो बहूएँ सो भव्य जीव और जो चावल के दाने सो महाव्रत जानो। अब जैसे पहिली उज्झिता नामक बहू ने चावल के दाने उज्झित करके दासीपन का महा दुःख पाया, वैसे कोई जीव कुकर्म वश सकल समीहित की सिद्धि करने वाले और भव-समुद्र से तारने वाले महाव्रतों को छोड़कर मरणादिक दुःख पाता है। और दूसरे कितनेक जीव दूसरी बहू के समान वस्त्र, भोजन और यशादिक के लोभ से उन व्रतों को खाकर परलोक के लाखों दुःख पाने के योग्य होते हैं। तीसरे जीव रक्षिता नामकी बहू के समान उन व्रतों को अपने जीवन (प्राण) के समान संपादन करके सर्व ओर मान पाते हैं। और चौथे जीव रोहिणी नामकी

वहू के समान पांचों व्रतों को बढ़ाते रहते हैं। वे गणधर के समान संघ में प्रधान होते हैं तथा इस ज्ञात का व्यवहार सूत्र में दूसरा भी उपनय दीखता है। वह इस प्रकार है कि—

किसी गुरु के चार शिष्य थे। वे सर्व व्रतपर्याय और श्रुत पाठ से आचार्य पद के योग्य हो गये थे। अब गुरु विचार करने लगे कि, यह गच्छ किसे सौंपना चाहिये। तब उसने उनकी परीक्षा करने के हेतु कौन कितनी सिद्धि करता है सो जानने के लिये उनको उचित परिवार देकर देशांतर में विहार करने को भेजे।

वे चारों क्षमादि गुण वाले भिन्न भिन्न देशों में गये। उनमें जो सबसे बड़ा शिष्य था, वह सुखशील होकर कटु वचन बोलता तथा एकान्त से किसी को भी सहायता नहीं देता था। जिससे उसका सकल परिवार थोड़े ही समय में उद्विग्न हो गये।

दूसरा शिष्य भी रोगी रहकर परिवार से अपने शरीर की सुश्रूषा कराने लगा परन्तु उसने उनको वास्तविक क्रिया नहीं कराई।

तीसरे शिष्य ने उद्यमी हो सार सम्हाल लेकर परिवार को प्रमादी न होने दिया।

अब जो चौथा शिष्य था वह पृथ्वी भर में यश प्राप्त करने लगा क्योंकि—वह जिन सिद्धान्त रूप अमृत का घर होकर दुष्कर श्रमणत्व पालता था तथा अपनी विहार भूमी को अपने गुणों द्वारा मानो देवलोक से आकर बसी हो उतनी संतुष्ट करता था और वह आर्य कालिकसूरि के समान देश काल का ज्ञाता व सुदीर्घदर्शी हो कर लोगों को बोधित करता हुआ भारी परिवार

वाला हो गया। वह गुरु के पास आया तब गुरुने सब वृत्तांत जानकर उन चारों शिष्यों को अपने गच्छ का नीचे लिखे अनुसार अधिकार दिया।

पहिले शिष्य को सचित्त अचित्त परठने का काम करने को आज्ञा दी। दूसरे को हुक्म किया कि तूं ने गच्छ को योग्य भक्तपान उपकरण आदि ला देने का काम बिना थके बजाते रहना चाहिये। तीसरे को कहा कि- तूं ने गुरु-स्थविर-ग्लान-तपस्वी-बालशिष्य आदि मुनियों की रक्षा करना चाहिये, क्योंकि यह कार्य दक्ष व विचक्षण हो वही कर सकता है। अब चौथा जो उन सब में सबसे लघु गुरु भाई था उसको गुरु ने प्रीति पूर्वक अपना सकल गच्छ सौंपा। इस प्रकार जिसको जो योग्य था उसको वह सौंप कर आचार्य परम आराधक हुए और वह गच्छ भी पूर्ण गुणशाली हुआ।

उपस्थित प्रकरण में तो दीर्घदर्शी गुण युक्त धनश्रेष्ठी के ज्ञात ही का उपयोग है, किन्तु भव्य जनों की बुद्धि उघाड़ने के हेतु उपनय की बात भी कह बताई है।

इस प्रकार धन श्रेष्ठी को प्राप्त हुआ निर्मल यशवाला महान् फल सुनकर दीर्घदर्शित्व रूप निर्मल उत्तम गुण को हे भव्यजनों ! तुम धारण करो, अधिक कहने की क्या आवश्यकता है ?

इस प्रकार धन श्रेष्ठी की कथा पूर्ण हुई।

सुदीर्घदर्शित्व रूप पन्द्रहवें गुण का वर्णन किया, अब विशेषज्ञता रूप सोलहवें गुण को प्रकट करते हैं।

वत्थूणं गुण-दोसे-लक्खेइ अपक्खवायभावेण।
पाएण विसेसन्नू—उत्तम धम्मारिहो तेण ॥२३॥

मूल का अर्थ—विशेषज्ञ पुरुष अपक्षपात से वस्तुओं के गुण-दोष जान सकता है। इसलिये प्रायः वैसा पुरुष ही उत्तम धर्म के योग्य है।

टीका का अर्थ— (विशेषज्ञ पुरुष) वस्तु याने सचेतन-अचेतन द्रव्य अथवा धर्म-अधर्म के हेतु-उसके गुण और दोषों को अपक्षपात भाव से याने मध्यस्थ भाव से स्वस्थ चित्त रखकर पहिचानते हैं याने जान सकते हैं। क्योंकि पक्षपाती पुरुष दोषों को गुण मान-लेता है और गुणों को दोष मान लेता है और उसी प्रकार उनका समर्थन करता है।

उक्तं च—

आग्रही बत निनीषति युक्तिं, तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशं॥

आग्रही मनुष्य जहां उसकी मति बैठी होती है वहीं युक्ति लगाने की इच्छा करता है, परन्तु निष्पक्षपाती मनुष्य की मति तो जहां युक्ति हो वहां लगती है। इससे प्रायः याने विशेषकर विशेषज्ञ याने सारेतरवेदी ही उत्तम धर्म को अर्ह याने प्रधान धर्म को योग्य होता है, सुबुद्धि मंत्री के समान।

सुबुद्धि मंत्री की कथा इस प्रकार है:—

यहां पूर्णभद्र नामक चैत्य से विभूषित चंपा नामक नगरी थी। वहां जितशत्रु नामक राजा था। वह चंद्र के समान सकल जनों को प्रिय था। उसकी मनोहर रूपवाली और शील से शोभित धारिणी नाम की रानी थी और उसका शत्रुओं को अति दीन करने वाला अदीनशत्रु नामक युवराज कुमार था। उस राजा का औत्पातिकी आदि चार प्रकार की निर्मल बुद्धि द्वारा बृहस्पति को जीते ऐसा और जीवाजीवादि पदार्थों के विस्तार-

विशेष का ज्ञाता, राज्यभार की चिंता रखने वाला, धर्म कार्य तत्पर, राजा के मन रूप मानस में हंस समान रमण करने वाला सुबुद्धि नामक महा मंत्री था।

उक्त चंपा नगरी के बाहिर ईशान कोण में एक गहरी खाई थी। उसमें मरे हुए, सड़े हुए, गले हुए, दुर्गन्धित, छिन्न भिन्न शव डाले जाते थे। जिससे वह मृत शवों की त्वचा, मांस और रुधिर से परिपूर्ण होकर भयानक अशुचि मय हो गई थी। उसमें मरे हुए सर्प, कुत्ते और बैलों के कलेवर डाले जाते थे। जिससे वह दुर्गन्धित पानी युक्त हो गई थी।

किसी समय राजा भोजन मंडप में दूसरे अनेक राजा (मांडलिक), ईश्वर (धनाढ्य), तलवर (कोतवाल), कुमार, सेठ, सार्थवाह आदि के साथ सुखासन पर बैठ कर अशन-पान योग्य, आनन्द जनक और श्रेष्ठ वर्ण-गंध-रस-स्पर्श युक्त आहार को हर्ष से खाने लगा। खाने के अनन्तर भी उक्त आहार के लिये विस्मित हो राजा अन्य जनों को कहने लगा कि— अहो! यह आहार कैसा मनोज्ञ था? तब वे राजा का मन रखने को बोले कि वास्तव में वैसा ही था। तब राजा सुबुद्धि मंत्री को भी इसी प्रकार कहने लगा। किन्तु सुबुद्धि राजा की इस बात की ओर बेपरवाह रहकर चुप बैठा रहा। तब राजा ने वही बात दो-तीन बार कही।

तब सुबुद्धि मंत्री बोला कि— हे स्वामिन्! ऐसे अति मनोज्ञ आहार में भी मुझे लेश मात्र भी विस्मय नहीं होता। कारण कि— शुभ पुद्गल क्षण भर में अशुभ हो जाते हैं और अशुभ पुद्गल क्षण भर में शुभ हो जाते हैं तथा शुभ शब्द वाले, शुभ रूप वाले, शुभ गन्ध वाले, शुभ रस वाले और शुभ स्पर्श वाले पुद्गल भी प्रयोग से अशुभ हो जाते हैं।

मंत्री का यह वचन राजा ने नहीं स्वीकार किया। तदनन्तर किसी समय राजा, सामन्त और मंत्रियों सहित बाहर फिरने को निकला। उस खाई के समीप आते ही दुर्गंध से घिर कर मुख व नासिका को खूब ढांक कर उतना भूमि भाग पार करने लगा। पश्चात् वह मंत्री आदि से कहने लगा कि- इस खाई का पानी सर्प आदि मृत कलेवरों की दुर्गंधि से बहुत खराब हो गया है। तब वे भी 'हां' करने लगे।

तब राजा सुबुद्धि मंत्री को कहने लगा कि- अहो! यह पानी कैसा उद्वेग करने वाला है? मंत्री बोला कि- हे नरवर! इसमें उद्वेग पाने का क्या काम है? कारण कि- अगर, चन्दन, कपूर और फूल आदि सुगन्धित द्रव्यों से वासित हुए अशुभ पुद्गल भी शुभ होते दृष्टि में आते हैं और कपूर आदि अति पवित्र पदार्थ भी देहादिक के सम्बन्ध से अशुभ हो जाते हैं। इसलिये शुभ व अशुभ की बात ही मत करिए। कहा है कि- पुद्गलों का परिणाम विचार करके जैसे वैसे तृष्णा रोक कर आत्मा को शान्त रख विचरना चाहिए।

वह सुन राजा कुछ क्रोधित हो सुबुद्धि को कहने लगा कि- तूं इस प्रकार अपने को व दूसरों को भी असत्य आग्रह में क्यों तानता है? तब मंत्री विचारने लगा कि- अहो! यह राजा परमार्थ के विशेष का ज्ञाता व जिन-प्रवचन से भावित बुद्धि वाला किस प्रकार से हो सकता है?

पश्चात् उसने संध्या के समय अपने विश्वास पात्र सेवक के द्वारा उस खाई का पानी मंगवा कर, छनवा कर नये घड़ों में रख उनमें सज्जीक्षार डाल कर उनको मुद्रित करवा कर, लटका रखे। इस प्रकार दो तीन बार सात-सात रात्रि दिवस प्रयोग करने से

वह पानी स्फटिक के समान साफ और उ
हो गया। पश्चात् उस पानी को मंत्री ने इला
द्रव्यों से सुवासित किया। तत्पश्चात् राजा के
को बुला कर कहा कि- भो भो! राजा के भोज
यह पानी रखना। उसने यह बात स्वीकार की
करने पर राजा अपने परिवार सहित वह पानी
से रोमांचित हो प्रशंसा करने लगा कि- अहो
पानी है?

पश्चात् तुरन्त ही राजा ने पानी लाने वाले
कि- हे भद्र! तू ने यह उत्तम पानी कहां से
बोला कि- हे देव! यह उदकरत्न मैं सुबुद्धि मं
लाया हूँ। तब राजा ने सुबुद्धि मंत्री को बुला क
मंत्री! क्या मैं तुझे अनिष्ट हूँ कि- जिससे कल
तेरे यहां से आया हुआ उदकरत्न तू सदैव नहीं

हे देवानुप्रिय! यह उदकरत्न तू ने कहां से
मंत्री बोला कि- हे देव! यह उसी खाई का पानी
महीनाथ! इन इन उपायों से मैं ने इसे ऐसा करव
राजा ने इन वचनों पर विश्वास न होने से स्वयं
करके देखा तो क्रम से वह पानी मानस सरोवर के
उत्तम हो गया। तब राजा विस्मित हो मंत्री से कहने
हे देवानुप्रिय! इतने अति सूक्ष्म बुद्धिगम्य
कैसे जान सका है? तब मंत्री बोला कि- हे देव
वचन से।

तब राजा बोला कि-हे मंत्री! मैं तेरे पास से
सुनना चाहता हूँ। तब मंत्री उसे केवलीप्रणीत

कहने लगा। मंत्री ने पहिले उसे मुनिजन में स्थित चातुर्याम धर्म सुनाया। पश्चात् सम्यक्त्व मूल गृहस्थ धर्म सुनाया। जिसे सुन राजा बोला कि-हे अमात्यवर! यह निग्रंथ-प्रवचन सत्य व सर्वाधिक है और मैं इसे उसी प्रकार स्वीकार करता हूँ। परन्तु (अभी) मैं तुझसे श्रावक धर्म लेना चाहता हूँ। तब मंत्री बोला कि- हे स्वामिन्! बिना विलंब ऐसा ही करो। तदनुसार जितशत्रु राजा सुबुद्धि मंत्री से हर्षित हो भली भांति बारह प्रकार का गृहस्थ धर्म स्वीकारने लगा।

इतने में वहां स्थविर मुनियों का आगमन हुआ। उनको वन्दना करने के लिये राजा वहां गया। वहां मंत्री ने धर्म सुन, हर्षित हो गुरु से विनंति करी कि आपसे मैं प्रव्रज्या लूंगा। किन्तु राजा से पूछ लूं। तब गुरु बोले कि- हे मंत्री! शीघ्र ही ऐसा कर। जब उसने राजा से पूछा तो वह बोला कि-हे मंत्री! अपने इस राज्य का कुछ समय पालन करके अपन दोनों दीक्षा लेंगे।

मंत्री ने कहा कि- ठीक तो ऐसा ही करेंगे। यह कहकर उन दोनों ने धर्म का पालन करते हुए बारह वर्ष व्यतीत किये।

अब पुनः वहां स्थविर आये उनसे धर्म सुन कर राजा ने अपने अदीनशत्रु नामक पुत्र को राज्य भार सौंप बुद्धिमान् सुबुद्धि मंत्री के साथ प्रवचन की प्रभावना करते हुए, इन्द्रादिक को आश्चर्यान्वित कर दीक्षा ग्रहण की। वे दोनों उग्रातिउग्र विहारी होकर ग्यारह अंग पढ़कर, अति शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालनकर निरतिचार पन से दीक्षा का पालन करने लगे। वे सकल जीवों की रक्षा करते हुए शुक्ल ध्यान में लीन हो, केवलज्ञान पाकर सिद्धि को प्राप्त हुए।

इस प्रकार जिनवचन रूप पुष्पों में भ्रमर के समान प्रीति रखने वाला सुबुद्धि मंत्री स्पष्टतः विशेषज्ञत्व गुण के योग से स्वपर हित कर्त्ता हुआ। अतएव हे बुद्धिमान जनों! तुम संसार से तारने में नौका समान इस गुण को धारण करो।

इस प्रकार सुबुद्धि मंत्री की कथा पूर्ण हुई।

विशेषज्ञत्व रूप सोलहवां गुण कहा। अब वृद्धानुगत्व रूप सत्रहवां गुण कहते हैं।

वुड्ढो परिणयवुद्धी पावायारे पवत्तई नेव।
वुड्ढाणुगो वि एवं संसग्गिकया गुणा जेण॥ २४॥

मूल का अर्थ वृद्ध पुरुष परिपक्व-बुद्धि होने से पापाचार में कभी प्रवृत्त नहीं होता इसी प्रकार उसका अनुगामी भी पापाचार में प्रवृत्त नहीं होता क्योंकि संगति के अनुसार गुण आता है।

टीका का अर्थ-वृद्ध याने अवस्थावान् पुरुष परिपक्व बुद्धिवाला याने परिणाम सुन्दर बुद्धिवाला अर्थात् विवेक आदि गुणों से युक्त होता है।

तथाचोक्तं—तपः-श्रुत-धृति-ध्यान-विवेक-यम-संयमैः।
ये वृद्धास्तेऽत्र शस्यन्ते, न पुनः पलिताङ्कुरैः॥ १॥

जो तप, श्रुत, धैर्य, ध्यान, विवेक, यम और संयम से बढ़े हुए हों वे वृद्ध हैं न कि जिनके श्वेत केश आ गये हैं वे।

सत्तत्त्वनिकषोद्भूतं विवेकालोकवर्द्धितम्।
येषां बोधमयं तत्त्वं, ते वृद्धा विदुषां मताः॥ २॥

सत्य तत्व रूप कसौटी से प्रकटा हुआ और विवेक रूप प्रकाश से वृद्धि पाया हुआ ज्ञानमय तत्व जिन्होंने प्राप्त किया होवे, उनको पंडित जन वृद्ध मानते हैं।

प्रत्यासत्ति समायातै-र्विषयैः स्वान्तरञ्जकैः।
न धैर्यं स्खलितं येषां, ते वृद्धाः परिकीर्त्तिताः॥ ३॥

प्राप्त हुए मनोहर विषयों से जिन का धैर्य न टूटे वे वृद्ध माने जाते हैं।

नहि स्वप्नेऽपि सञ्जाता, येषां सद्वृत्तवाच्यता।
यौवनेऽपि मता वृद्धा-स्ते धन्याः शीलशालिनः॥ ४॥

जिनके सदाचार के सम्बन्ध में स्वप्न में भी कोई विरुद्ध न बोल सका हो वे भाग्यशाली पुरुषों को यौवन में होते भी सुशीलजन वृद्ध मानते हैं।

किंच—प्रायः शरीरशैथिल्यात्, स्यात् स्वस्था मतिरंगिनाम्।
तरुणोऽपि क्वचित् कुर्यात्, दृष्टतत्त्वोऽपि विक्रियाम्॥ ५॥

(तथा ऐसा भी कहा जाता है कि-) वृद्धावस्था में शरीर शिथिल हो जाने से प्राणियों की बुद्धि स्वस्थ होती है और तरुण तो तत्वों का ज्ञाता होने पर भी किसी स्थान में विकार पा जाता है।

वार्द्धकेन पुनर्धत्ते, शैथिल्यं हि यथा यथा,
तथा तथा मनुष्याणां, विषयाशा निवर्त्तते॥ ६॥

मनुष्य वृद्धावस्था आने पर ज्यों ज्यों शिथिल होता जाता है त्यों त्यों उसकी विषय तृष्णा भी निवृत्त होती जाती है।

हेयोपादेयविकलो, वृद्धोपि तरुणाग्रणीः ।
तरुणोपि युतस्तेन, वृद्धैर्वृद्ध इतीरितः ॥ ७ ॥ (इ

(सारांश यह है कि) जो वृद्ध होने भी हेयोपादेय के से हीन हो वह तरुणों का सरदार ही है, और तरुण हो जो हेयोपादेय को ठीक समझकर उसके अनुसार चल वह वृद्ध है। इसलिये ऐसा वृद्ध पुरुष पापाचार याने कर्म में कभी प्रवृत्त नहीं होता । क्योंकि वह वार यथावस्थित तत्त्व को समझा हुआ होता है। जिससे वृद्ध अहित के हेतु में प्रवर्त्तित नहीं होता, उसी से वृद्धानुग के अनुसार चलने वाला पुरुष भी इसी प्रकार पाप में प्र- नहीं होता, यह मतलब है ।

बुद्धिमान वृद्धानुग मध्यमबुद्धि के समान

किस हेतु से ऐसा है, सो कहते हैं:—जिस कारण से के गुण संसर्गकृत हैं, याने कि संगति के अनुसार होते हु पड़ते है, इसीसे आगम में कहा है कि—

उत्तमगुणसंसग्गी, सीलदरिद्द' पि कुणइ सीलड्ढं ।
जह मेरुगिरिविलग्गं, तणंपि कणगत्तणमुवेइ ॥ १ ॥

उत्तम गुणवान् की संगति शीलहीन को भी शीलवान है, जैसे कि मेरुपर्वत पर उगी हुई घास भी सुवर्ण जाती है।

मध्यमबुद्धि का चरित्र इस प्रकार है ।

इस भरतक्षेत्र में क्षितिप्रतिष्ठित नामक नगर है। बलवान कर्मविलास नामक राजा था। उसकी यथार्थ नाम सुन्दरी नामक एक स्त्री थी और दूसरी सकल आपदा की

समान अकुशलमाला नामक स्त्री थी। उन दोनों स्त्रियों के मनीषी और बाल नामक दो पुत्र थे। वे परस्पर प्रीति युक्त हो एक समय शरीर रूपी उद्यान में बाल-क्रीड़ा करने को गये।

वहां उन्होंने एक मनुष्य को फांसी खाते देखा। तब बाल उसकी फांसी दूर कर उसे फांसी खाने का कारण पूछने लगा।

वह बोला कि- यह बात मत पूछो। यह कहकर वह पुनः फांसी खाने को तैयार हुआ। तब जैसे वैसे उसे रोक कर बाल उसे आदर से पूछने लगा, तो वह बोला कि- हे भद्र! मेरा नाम स्पर्शन है। मेरा एक भवजन्तु नामक मित्र था। उसने कुछ समय हुआ सदागम के साथ मित्रता करी। तब से इसका मुझ पर से प्रेम टूट गया। वह स्त्री व पलंग को छोड़ कर दुष्कर तप करने लगा। महान् क्लेश सहने लगा। केश लुंचन करने लगा। भूमि व काष्ट पर सोने लगा और सामान्य रूखा सूखा खाने लगा। वह स्फुरित ध्यान में चढ़ ज्ञान से भावनाओं को उत्तेजित कर, मुझे छोड़ कर मैं जहां नहीं जा सकता ऐसी निवृत्ति नामक पुरी में चला गया है। जिससे मित्र-वियोग के कारण मैं ऐसा करने लगा हूँ। यह सुन उसके ऐसे दृढ़ प्रेम से प्रसन्न होकर बाल बोला-

मित्र पर वात्सल्य रखने वाले, दृढ़ प्रीतिशाली और परोपकार परायण तेरे समान व्यक्ति को ऐसा ही करना उचित है। क्योंकि मनस्वी पुरुषों को मित्र के विरह में क्षण भर भी रहना घटित नहीं होता। यह सोचकर ही देखो मित्र (सूर्य) का विरह होते ही दिवस भी अस्त हो जाता है।

धन्य है! तेरे मित्र वात्सल्य को, धन्य है तेरी स्थिरता को, धन्य है तेरी कृतज्ञता को और धन्य है तेरे दृढ़ साहस को।

भवजन्तु की क्षण भर में हुई रक्त-विरक्तता देखो! उसके हृदय की कठोरता देखो! और उसकी महामूर्खता देखो! तथापि हे धीर! तूं धीरज धर, शोक त्याग कर, स्वस्थ हो और प्रसन्नता पूर्वक मेरा मित्र हो।

स्पर्शन बोला—बहुत अच्छा, तुम्हीं मेरे भवजन्तु के समान हो। तब बाल मन में प्रसन्न होकर उसके साथ मित्रता करने लगा। मनीषी कुमार विचार करने लगा कि- सदागम से त्याज्य होने से निश्चय यह स्पर्शन बुरे आशयवाला होना चाहिये। इससे उसने बाहर ही से उसके साथ मित्रता दर्शाई।

उन दोनों ने यह वृत्तान्त माता पिता को कह सुनाया तब राजा बहुत हर्षित हुआ। अकुशला माता हर्षित होकर बोली कि- हे पुत्र! तूं ने बहुत ही अच्छा किया, कि जो इस सर्व सुख की खानि समान स्पर्शन को मित्र किया।

शुभसुंदरी विचार करने लगी कि-पद्म को जैसे हिम जलाता है, चन्द्रमा को जैसे राहु ग्रसता है वैसे ही वह स्पर्शन भी मित्र होने से मेरे पति के सुख का कारण नहीं है। ऐसा सोचकर दुःखी होने लगी, परन्तु गांभीर्य धारण कर उसने पुत्र को कुछ भी नहीं कहा।

अब एक समय स्पर्शन की मूल शुद्धि प्राप्त करने के लिये मनीषी ने बोध नामक अंगरक्षक को एकान्त में बुलाकर कहा कि- हे भद्र! इस स्पर्शन की मूल शुद्धि का पता लगाकर मुझे शीघ्र बता। तब स्वामी की आज्ञा स्वीकार कर बोध वहां से रवाना हुआ। उसने अपने प्रभाव नामक प्रतिनिधि को इस कार्य के लिये भेजा। वह कितनेक दिनों में वापस आ बोध के पास जा उसे प्रणाम करने लगा, तो बोध ने उसे आदर पूर्वक पूछा कि-हे प्रभाव! तेरा वृत्तांत कह तब वह बोलाः—

उस समय वहां से निकल कर मैं बाहर के देशों में बहुत भटका; किन्तु मुझे इस बात का लेशमात्र भी पता नहीं मिला। तब मैं अन्दर के देशों में आया। वहां मैंने राजसचित्त नामक चारों ओर से अंधकार पूर्ण भयंकर नगर देखा।

उस नगर में प्रवेश करके मैं ज्यों ही राजसभा के समीप पहुँचा त्यों ही मैंने वहां एकाएक कोलाहल होता सुना। वहां लौल्यादिक राजाओं के मिथ्याभिमानादिक रथ अपनी उछलती घरघराहट से ब्रह्मांड को भर देते थे। ममत्वादिक हाथी गर्ज कर मेघ को भी नीचा दिखाते थे। वैसे ही अज्ञानादिक घोड़े हिन-हिनाहट से दिशाओं को भर डालते थे। व चापल आदि पदाती अनेक युद्ध करने से दृढ़, साहसिक बने हुए अनेक जाति के शस्त्र ग्रहण करके चले जा रहे थे। इसके अतिरिक्त अन्य भी समस्त सैन्य प्रसर्प-दर्प कंदर्प का नगारा बजने से शीघ्रातिशीघ्र सजधज कर चलने लगा। तब मैं ने विषयाभिलाष ही के विपाक नामक मनुष्य को इस प्रस्थान का कारण पूछा तो वह कहने लगा।

इस लुटारू सैन्य का मुख्य सरदार रागकेशरी नामक राजा है। वह शत्रुओं के हाथीयों के कुंभस्थल विदीर्ण करने में सिंह समान है। उसका विषयाभिलाप नामक प्रख्यात मंत्री है। वह प्रचंड सूर्य के समान प्रौढ़ प्रताप से अखिल जगत् को वश में करने वाला है। उक्त मंत्रीश्वर को एक समय रागकेशरी कहने लगा कि हे बुद्धिमान्! तूं मुझे यह जगत् वश में कर दे। तब मंत्री ने उक्त बात स्वीकार कर जगत को वश में करने के लिये अपने स्पर्शनादिक पांच मनुष्यों को बुलाकर आदेश कर दिया।

पश्चात् कुछ समय के अनन्तर मंत्री ने राजा को कहा कि-हे देव! आपकी आज्ञानुसार मैं ने अपने मनुष्यों को जगत् को

वश में करने के लिये भेज दिया है। उन्होंने प्राय: समस्त विश्व जीत कर आपके आधीन कर दिया है। तथापि ऐसा सुनने में आता है कि- पके हुए धान्य को जैसे टिड्डीदल बिगाड़ देता है। वैसे अपने जीते हुए लोगों को उपद्रव करने वाला महा पराक्रमी संतोष नामक डाकू कूट कपट में कुशल हो बारंबार कितने ही जनों को पकड़ कर आपकी भुक्त भूमी से बाहिर स्थित निर्वृति पुरी में पहुंचाया करता है।

मंत्री का यह वचन सुन कर राजा कोपवश आरक्तनेत्र हो उससे लड़ने के लिये स्वयं रवाना हुआ था। इतने में उसे पिता के चरणों को अभिवन्दन करने की बात स्मरण हुई। जिससे वह तुरन्त ही समुद्र की तरंग की भांति वापस फिरा है। तब मैं भय से इधर उधर दृष्टि फेरता हुआ विपाक को पूछने लगा कि, इस राजा का पिता कौन है ? सो मुझे कह।

वह किंचित् हँसकर बोला कि क्या इतना भी तुझे ज्ञात नहीं ? अरे ! वह तो त्रैलोक्य विख्यात महिमावान् मोह नामक महा नरेन्द्र है।

वृद्ध होने से उसने विचार किया कि मैं एक ओर रह कर भी ने बल से जगत् को वश में रख सकूंगा इससे अब मेरे को राज्य सौंपूं। जिससे इस रागकेशरी को राज्य देकर वह निश्चित होकर सोया है, तो भी उसी के प्रभाव से यह जगत् वश में रहता है। इसलिये मोहराजा की पूछताछ करने की तुझे क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार वह बोला, तब मैंने उसे इस प्रकार मिष्ट वचन कहा कि-हे भद्र ! मैं निर्बुद्धि हूँ, अतएव तू ने मुझे उचित प्रबोधित किया परन्तु अब आगे क्या बात है सो कह। वह बोला रागकेशरी ने सपरिवार पिता के समीप जाकर उनके चरण में नमन किया और उन्हें सर्व वृत्तान्त सुनाया।

मोह बोला कि- हे पुत्र ! यह तो मेरे अंग को पामा के समान पीड़ा करता है। इसलिये तूं यहां रहकर चिरकाल राज्य पालन कर। संतोष शत्रु को मारने के लिये युद्ध करने को मैं ही जाऊंगा। तब रागकेशरी कान पर हाथ रख कर बोलने लगा कि- हाय, हाय ! यह कौनसा भोग प्राप्त हुआ। आपका शरीर तो अनन्त काल पर्यंत एक ही स्थान में रहना चाहिये।

इस प्रकार रोकते हुए भी मोह सब के आगे होकर रवाना हुआ है। यह उसी प्रस्थान का कारण है। यह कह कर विपाक शीघ्र ही वहां से चला गया। तब मैं सोचने लगा कि- स्पर्शन की सर्व शोध तो मैं ने प्राप्त करली परन्तु इसमें इसने जो संतोष से स्पर्शन के पराभव की बात कही है, वह अघटित जान पड़ती है। इससे पुनः पूछने पर उसने सदागम का नाम लिया।

तब मैंने तर्क किया कि-संतोष सदागम का कोई अनुचर होना चाहिये। इस प्रकार विचार करता हुआ मैं आपके सन्मुख आया हूँ। अब आप स्वामी हो।

बोध बोला कि-हे प्रभाव ! तूं ने ठीक कार्य किया। पश्चात् उसे साथ लेकर बोध मनीषीकुमार के पास गया। कुमार को नमन करके बोध ने उक्त वृत्तान्त सुनाया। जिससे कुमार आनन्दित हो प्रभाव को पूजने लगा।

पश्चात् किसी समय मनीषीकुमार ने स्पर्शन को कहा कि- हे स्पर्शन ! क्या तुझे सदागम ही ने मित्र-विरह कराया है ? अथवा इस कार्य में अन्य भी कोई सहायक था ? तब स्पर्शन बोला कि-हां, था। परन्तु हे मित्र ! उसकी बात मत पूछ। कारण कि, वह मुझे बहुत दुःख देता है। वास्तव में तो वही सब कर्त्ता हर्त्ता है। सदागम तो केवल उपदेश करने वाला है। तब कुमार ने पुनः पूछा कि- उसका क्या नाम है, सो कह।

तब वह भय से विह्वल होकर बोला कि-उस क्रूर-कर्मी का तो मैं नाम भी उच्चारण नहीं कर सकता। तब राजकुमार बोला कि- तूं हमारे सन्मुख लेश मात्र भी भय न रख। हे भद्र! अग्नि शब्द बोलने से मुख में दाह नहीं उत्पन्न होता। तब बहुत आग्रह होता जानकर स्पर्शन दीनता पूर्वक बोला कि-उस पापी शिरोमणि का नाम संतोष है।

तब राजकुमार विचार करने लगा कि-इससे अब प्रभाव का लाया हुआ सम्पूर्ण वृत्तान्त घटित हो जाता है। पश्चात् एक दिन स्पर्शन ने सिद्ध योगी की भांति नगर में प्रवेश किया। तब बालकुमार तो उसके अत्यंत वशीभूत हो गया किन्तु मनीषीकुमार नहीं हुआ। उन्होंने यह सब वृत्तान्त अपनी अपनी माताओं को कहा, तो अकुशला बोली कि-हे पुत्र! सब ठीक हुआ है। शुभसुन्दरी अपने पुत्र को मधुर वाक्यों से कहने लगी कि- हे वत्स! इस पापमित्र के साथ सम्बन्ध रखना अच्छा नहीं।

वह बोला कि-हे माता! तेरी बात सत्य है, परन्तु क्या करूं? क्योंकि अपनाये हुए को अकारण छोड़ना योग्य नहीं है।

शुभसुन्दरी बोली कि- हे पुत्र! तेरी पवित्र बुद्धि को धन्य है, तेरी नतवात्सल्यता को धन्य है और तेरी नीति निपुणता को भी धन्य है। क्योंकि- सज्जन पुरुष सदोष वस्तु को भी अकारण नहीं तजते। इस विषय में विवाह करके गृहवास में रहते तीर्थंकर ही उदाहरण हैं। परन्तु जो पुरुष अवसर प्राप्त होने पर भी मूर्ख बनकर सदोष का त्याग नहीं करते, उनका विनाश होने में संशय नहीं।

राजा कर्मविलास भी स्त्रियों के मुख से उक्त बात जानकर मनीषी पर प्रसन्न हुआ और बाल के ऊपर रुष्ट हुआ। बालकुमार

स्पर्शन के दोष से अन्य कार्य छोड़कर विलास में पड़ा हुआ किंचित् भ्रमित और काम से चैतन्यहीन हो गया। तब मनीषीकुमार ने स्पर्शन की मूल शुद्धि बताकर बाल को कहा कि- हे भाई! इस स्पर्शन शत्रु का तू किसी भी स्थान में विश्वास मत करना।

बाल बोला कि- हे बन्धु! यह तो सकल सुखदायक अपना उत्तम मित्र है, उसको तू शत्रु कैसे कहता है। मनीषी सोचने लगा कि-यह बाल अकार्य करने में तैयार हो गया है। इसलिये सैकड़ों उपदेशों से भी यह नहीं मानेगा। क्योंकि ऐसा कहा है कि-दुर्विनीत मनुष्य जिस समय अकार्य में प्रवृत्त होवे उस समय सत्पुरुष ने उनको उपदेश न करके उनकी उपेक्षा करना चाहिये। इस प्रकार अपने चित्त में विचार करके मनीषीकुमार ने बाल को शिक्षण देना छोड़ अपने कार्य में उद्यत हो, मौन धारण कर लिया।

उक्त राजा की सामान्यरूपा नामक एक रानी थी, और उसके मध्यमबुद्धि नामक पुत्र था। वह उस समय देशान्तर से घर आया और स्पर्शन को देख हर्षित हो बाल से पूछने लगा कि-वह कौन है? तब बाल ने उसका परिचय दिया।

पश्चात् बाल के कहने से स्पर्शन मध्यमबुद्धि के अंग में घुसा, जिससे वह भी बाल के समान विह्वल चित्त हो गया।

मनीषी को इस बात की खबर होते ही उसने मध्यमबुद्धि को स्पर्शन की मूल से की हुई शोध बताई तब मध्यमबुद्धि संशय में पड़कर विचार करने लगा कि- एक ओर तो स्पर्शन का सत्सुख है और दूसरी ओर भाई मना करता है। अतएव मुझे क्या करना उचित है सो मैं भली भांति जान नहीं सकता।

अतः मेरा सदा सुख चाहने वाली माता से पूछूं यह सोचकर उसने माता को सम्पूर्ण वृत्तान्त कहकर पूछा कि-अब मैं क्या करूं।

वह बोली कि-हे नन्दन! अभी तो तू मध्यस्थ रह। समय पर जो बलवान और निर्दोष पक्ष जान पड़े उसी का आश्रय लेना। क्योंकि- दो भिन्न भिन्न कार्यों में संशय खड़ा होने पर उस जगह काल विलम्ब करना चाहिये। इस विषय में दो जोड़लों (दम्पतियों) का दृष्टान्त है।

एक नगर में ऋजु नामक राजा था। उसकी प्रगुणा नामक पत्नी थी। उसका मुग्ध नामक पुत्र था और अकुटिला नामक उसकी बहू थी।

उक्त मुग्ध और अकुटिला एक समय वसंत ऋतु में सुवर्ण के सूपड़े (छावड़ी) लेकर अपने घर के समीप के उद्यान में फूल चुनने गये। वे पहिले कौन सूपड़ा भरे इस आशय से फूल एकत्र करते हुए एक दूसरे से दूर दूर होते गये।

इतने में वहां क्रीडा करता हुआ एक व्यन्तर दंपती (जोड़ा) आया। उनमें जो देवी थी उसका नाम विचक्षणा था और देव का नाम कालज्ञ था।

दैवयोग से वह देव अकुटिला पर मोहित हो गया और देवी मुग्ध पर मोहित हो गई। तब देव अपनी प्रिया को कहने लगा कि-हे प्रिये! तूं आगे चल। मैं इस राजा के उद्यान में से पूजा के लिये फूल लेकर शीघ्र ही तेरे पीछे पीछे आता हूँ।

पश्चात् वह देव स्त्री के संकेत को अपने विभंग ज्ञान से समझकर, मुग्ध का रूप धारण कर सूपड़े को फूल से भर अकुटिला के समीप आ कहने लगा कि-हे प्रिये! मैं ने तुझे

जीता है। यह सुन वह जरा लज्जित हुई। उसे वह कदलीगृह में ले गया इसी प्रकार विचक्षणा भी शीघ्र अकुटिला का रूप धर मुग्ध को बुलाकर उसी कदलीगृह में ले आई। यह देख मुग्ध बुद्धि अनेक तर्क वितर्क करने लगा तथा अकुटिल आशय वाली अकुटिला भी विस्मित हो गई।

अब देव सोचने लगा कि—यह स्त्री कौन है? हां, यह मेरी ही स्त्री है। इसलिये परस्त्री पर आसंग करने वाले इस पुरुषाधम को मार डालूं और स्वेच्छाचारिणी मेरी स्त्री को भी खूब पीड़ित करूं, कि जिससे वह पुनः कोई दूसरे पुरुष पर दृष्टि भी न डाले। अथवा मैं स्वयं भी सदाचार से भ्रष्ट हुआ हूँ। अतएव ऐसा काम करना उचित नहीं। इसलिये कालक्षेप करना उत्तम है।

इसी प्रकार विचक्षणा भी विचार करके कालक्षेप में तत्पर हुई। पश्चात् थोड़ी देर क्रीड़ा करके चारों घर आये। यह देखकर रानी सहित राजा प्रसन्न होकर बोला कि—अहो! वनदेवी ने हर्षित होकर मेरे पुत्र व पुत्र-वधू को दूने कर दिये। जिससे उसने सारे नगर में महोत्सव कराया। इस प्रकार उन चारों का कुछ समय व्यतीत हुआ।

उक्त नगर में मोहविलय नामक वन में प्रबोधक नामक ज्ञानवान् आचार्य पधारे। तब राजा आदि लोग उन मुनीश्वर को वन्दना करने गये। उन्हें सूरिजी ने निम्नांकित उपदेश दिया।

काम शल्य समान है। काम आशीविष समान है। कामेच्छु जीव अकाम रहते हुए भी दुर्गति को प्राप्त होता है. गुरु का यह वचन सुनते ही उक्त देव व देवी का मोहजाल नष्ट हुआ और उनको सम्यक्त्व की वासना प्राप्त हुई।

हुआ सब के आगे खड़ा हुआ। तत्पश्चात् इनके शरीर में से एक कुछ काले वर्ण वाला बालक निकला, तथा उसके अनन्तर तीसरा अतिशय काले वर्ण वाला बालक निकला। वह तीसरा बालक अपना शरीर बढ़ाने लगा। इतने में श्वेत बालक ने उसे धक्का मार कर रोक दिया पश्चात् वे दोनों काले बालक गुरु की पर्षदा में से चले गये।

गुरु बोले कि- हे भद्रो! इस विषय में तुम्हारा कुछ भी दोष नहीं किन्तु इन अज्ञान व पाप नामके दोनों काले बालकों का दोष है। वह इस प्रकार कि, तुम्हारे शरीर में से जो पहिले यह अज्ञान निकला, वही समस्त दोषों का कारण है। यह जब तक शरीर में रहता है तब तक प्राणी कार्याकार्य को नहीं जान सकते। वैसे ही गम्यागम्य भी नहीं जानते। जिससे वे जीव दुःखदायक पाप की वृद्धि करते हैं। सब के प्रथम जो श्वेत बालक निकला था वह आर्जव गुण है।

अज्ञान से तुम्हारा पाप बढ़ रहा था, उसे इसने रोक दिया, और तुम्हें मैंने बचाया है ऐसा भी इसीने कहा था। अतः जिनके चित्त में आर्जव रहता है। उनको भाग्यशाली ही मानना चाहिये। वे अज्ञान से पापाचरण करते हैं तथापि उनको बहुत थोड़ा पाप लगता है। इसलिये तुम्हारे समान भद्र जनों को अब अज्ञान व पाप को दूर करके सम्यक् धर्म सेवन करना चाहिये।

पंडितों ने मुक्ति प्राप्त करने के लिये इस संसार में विशुद्ध ही को सदैव ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि अन्य सर्व दुःख का कारण है। प्रिय संयोग अनित्य व ईर्ष्या व शोकादिक से भरपूर है तथा यौवन भी कुत्सित आचरणास्पद व अनित्य है।

इस भव में समुद्र की तरंगों के समान सब कुछ अनित्य ही है। अतः कहो कि- भला, विवेकी जनों को किसी स्थान में आस्था धारण करना योग्य है ?

यह सुन शुभाचार नामक पुत्र को राज्य में स्थापन कर, ऋजु राजा अपनी स्त्री, पुत्र तथा पुत्रवधू सहित प्रव्रजित हो गया। तब वे काले वर्ण वाले दोनों बालक शीघ्र ही भाग गये, और श्वेत वर्ण वाले बालक ने झट पुनः उनके शरीर में प्रवेश किया। तब देवी सहित देव ने विचार किया कि, देखो! इनको धन्य है कि जिन्होंने अर्हत प्रणीत दीक्षा ग्रहण की है।

हम तो इस व्यर्थ देव भव को पाकर ठगा गये हैं, किन्तु अब सम्यक्त्व पाकर के हम भी धन्य ही हैं। पश्चात् वे देव-दंपती हर्ष से सूरिजी के चरणों में नमकर उनकी शिक्षा स्वीकार कर अपने स्वस्थान को गये।

इस प्रकार हे पुत्र ! मैं ने तुझे दो जोड़ों की बात कही, इसलिये संदिग्ध बात में कालविलंब करने से लाभ होता है। तब मध्यमबुद्धि बोले कि-हे माता ! जैसा आप कहती हो वैसा ही करने को मैं उद्यत हूँ। यह कह कर उसने हर्ष से माता का वचन स्वीकार किया।

अब उधर बाल कुमार अपने स्पर्शन मित्र तथा अकुशल-माला माता के वश में हो अकृत्य करने में अतिशय फंस गया। वह ढेड़ और चांडाल जातियों की स्त्रियों तक में अति लुब्ध हो कर निरन्तर व्यभिचार करने लगा। तब लोग उसकी निन्दा करने लगे कि-यह निर्लज्ज व पापिष्ट अपने कुल को कलंकित करता है, तो भी यह पाप से निवृत्त नहीं होता। अब लोगों में उसकी इस प्रकार निंदा होती देख कर स्नेह से विह्वल मन

वाला मध्यम बुद्धि लोकोपवाद से डरकर उसको कहने लगा कि- हे भाई ! तुझे ऐसा लोकविरुद्ध और कुल को दूषण लगाने वाला अगम्य गमन नहीं करना चाहिये । तब बाल बोला कि- तूं भी मनीषि की बातों में आ गया है । तब मध्यम बुद्धि ने विचार किया कि यह उपदेश के योग्य नहीं । इससे वह भी चुप हो रहा ।

एक समय वसंत ऋतु में बालकुमार मध्यमबुद्धि के साथ लीलावर उद्यान में स्थित कामदेव के मकान में गया । वहां उसने उक्त मकान के समीप मंद मंद प्रकाश वाला काम का वासमंदिर देखा । तब वह कौतुकवश मध्यम कुमार को द्वार पर बिठा कर स्वयं झट से उस घर के अन्दर घुस गया । वहां कोमल निर्मल तूलिका वाले कामदेव के पलंग पर स्पर्शन मित्र और अकुशला माता के दोष से वह हीनपुण्य सो गया ।

इतने में उसी नगर के निवासी शत्रुमर्दन राजा की रानी मदनकंदली वहां आकर व उसे शय्या पर सोया हुआ कामदेव जान कर भक्ति से उसके सर्वाङ्ग को स्पर्श करके पूजने लगी । इस प्रकार रानी कामदेव की पूजा करके अपने घर को गई । इधर बाल कुमार उसके संस्पर्श के योग से नष्टचेतन सा हो गया । वह सोचने लगा कि- यह स्त्री मुझे किस प्रकार प्राप्त हो, इस प्रकार चिन्ता करता हुआ वह थोड़ जल में जैसे मछली तड़पती है वैसे दुःखित हुआ । बाल क्यों देरी करता है ऐसा सोचता हुआ मध्यम बुद्धि कामदेव के मंदिर में गया और बाल को उठाया । जितने में कुछ बोलता नहीं, इतने में उस बालक के समान चेष्टा करते हुए बाल कुमार को उसी स्थान के एक व्यंतर ने पकड़ा । उसने उसे पलंग पर से भूमि पर पटक दिया । सर्वांग में ताड़ना की और बाहिर के लोगों में उसका सब वृत्तान्त कहा । तब मध्यम बुद्धि तथा

लोगों ने अत्यन्त प्रार्थना करके उसे उक्त व्यन्तर से छुड़ाकर घर ले गये।

बाल मध्यमबुद्धि को पूछने लगा कि- हे भाई! तूने उस वासभवन से निकलती किसी स्त्री को देखा है? मध्यमबुद्धि ने कहा--हां देखी है. तब उसने पूछा-हे भाई! वह किसकी स्त्री थी? मध्यमबुद्धि बोला-वह यहीं के राजा की मदनकंदली नामक रानी थी।

यह सुन बाल बोला कि-वह मेरे समान व्यक्ति को कहां से होवे? इस पर से मध्यमबुद्धि उसका आशय समझ कर कहने लगा कि हे भाई! यह तुझे कौनसी बला लगी है, कि जिससे तूं ऐसा दुःखी होता है। क्या तूं भूल गया कि अभी ही तुझे बड़ी मेहनत से छुड़ाया है। यह सुन बाल कृष्ण काजल के समान मुख करने लगा। तब मध्यम कुमार उसे अयोग्य जान कर चुप हो रहा।

इतने में सूर्यास्त होते ही बाल अपने घर से निकलकर उक्त राजा के घर की ओर रवाना हुआ। तब भाई के स्नेह से मुग्ध हो मध्यमकुमार उसके पीछे गया। वहां किसी पुरुष ने आ, बाल को मजबूत बांधकर रोते हुए को आकाश में फेंका। तब "अरे कहां जाता है, पकड़ो, पकड़ो!" इस प्रकार बोलता हुआ मध्यमकुमार उसकी सहायता को आ पहुँचा।

इतने में तो वह पुरुष बाल को पकड़कर अदृश्य हो गया, तो भी मध्यम कुमार ने भाई की शोध करने की आशा से मुंह नहीं मोड़ा। वह भटकता भटकता सातवें दिन कुशस्थलपुर में पहुँचा। परन्तु उसने किसी जगह भी अपने भाई का समाचार न पाया। तब वह भ्रातृवियोग से दुःखित हो गले में पत्थर

बांधकर कुए में गिरने को उद्यत हुआ। इतने में उसे नन्दन नामक राजकुमार ने रोका।

पश्चात् नंदन के पूछने पर उसने सम्पूर्ण वृत्तांत सुनाया, तो नन्दन ने उसे कहा कि-जो ऐसा है तो, सिद्ध के समान तेरा इष्ट पूर्ण हुआ समझ। वह इस प्रकार कि-

यहां हरिश्चन्द्र नामक राजा है। उसे दुश्मन दबाने लगे तो उसने अपने मित्र रतिकेति नामक विद्याधर को प्रणाम कर प्रार्थना करी कि- हे मित्र तूं किसी भी प्रकार ऐसी युक्ति कर कि मेरे शत्रु का नाश हो। तब उसने राजा को शत्रुविनाशिनी विद्या दी। तब से राजा ने उसकी छः मास पर्यन्त की पूर्व सेवा पूरी करी है, और अब उसकी साधना करने का अवसर प्राप्त हुआ है। जिससे होम करने के लिये रतिकेति विद्याधर आठ दिन पहिले किसी लक्षणवान् पुरुष को आकाश मार्ग से लाया हुआ है।

उस मनुष्य को राजा ने रक्षार्थ मुझे ही सौंपा है। तब मध्यम बोला कि- यदि ऐसा ही है तो उसे मुझे शीघ्र बता। तब उसने उसे अस्थिपंजर बने हुए उसको बताया तो उसे पहिचान कर मध्यम कुमार करुणा ला उसके पास से मांगने लगा, तो उसने तुरन्त ही उसको इसके सुपुर्द कर दिया। और उसने मध्यम को कहा कि-यह कार्य राज्यद्रोह है। इसलिये यहां से तूं शीघ्र दूर हो। मैं अपना बचाव स्वयं कर लूंगा।

तब मध्यमकुमार उसका उपकार मान, बाल को साथ ले डरता डरता शीघ्र वहां से निकल क्रमशः अपने नगर में आया। अनन्तर बाल जैसे तैसे कुछ बलवान हुआ। तब उसने नंदन के समान ही अपना सब वृत्तान्त कहा। इस समय मनीषीकुमार भी

लोकानुवृत्ति से वहां आ पहुँचा, और परदे के पीछे खडे रहकर बाल का सब वर्णन सुना। तब वह उसे कहने लगा कि-हे भाई! मैंने तुझे प्रथम ही से सावधान किया था कि- यह स्पर्शन पापिष्ट और सकल दोषों का घर है।

बाल बोला कि- अभी भी जो उस दीर्घ नेत्र वाली, कोमलाङ्गी स्त्री को पाऊं तो यह सर्व दुःख भूल जाऊं। यह सुन मनीषी विचारने लगा कि- खेद की बात है कि- यह बिचारा बाल काले नाग से डसे हुए मनुष्य की भांति उपदेश मंत्र को उचित नहीं।

कहा है कि-स्वाभाविक विवेक यह एक निर्मल चक्षु है, और विवेकियों की संगति यह दूसरी चक्षु है। जगत् में जिसको ये दो चक्षुएं नहीं होती उसे परमार्थ से अंधा ही समझना चाहिये। अतएव ऐसा पुरुष जो विरुद्धमार्ग की ओर चले, तो, उसमें उसका क्या दोष है?

अब मनीषि ने मध्यमबुद्धि को उठाकर कहा कि-क्या इस बाल के पीछे लगे रहकर क्या तुझे भी विनष्ट होना है? तब मध्यम बुद्धि पद्म कोश के समान अंजलि जोड़कर मनीषि को कहने लगा कि-हे पवित्र बन्धु! मैं आज से इस बाल की संगति छोड़ दूंगा। अब से मैं वृद्धमार्ग ही का अनुसरण करूंगा कि जिससे सकल क्लेशों को जलांजली देने में समर्थ हो जाऊं?

जो मैं तेरे समान प्रथम ही से वृद्धानुग होता तो, हे भाई! मैं ऐसी क्लेशमय दशा को नहीं प्राप्त होता। जो सदैव वृद्धानुगामी रहते हैं; उनको धन्य है? तथा वे ही पुण्यशाली हैं, अथवा यह कहना चाहिये कि- वृद्धानुगामित्व, यह सतपुरुषों का स्वयं सिद्ध व्रत ही है।

कहा है कि-विपत्ति में साहस रखना, महापुरुषों के मार्ग का अनुसरण करना न्याय से वृत्ति प्राप्त करना, प्राण जाते भी दुष्कार्य न करना, असत् पुरुषों की प्रार्थना नहीं करना, तब थोड़े धन वाले मित्र से भी याचना नहीं करना। इस प्रकार से तलवार की धार समान विषम व्रत पालने के लिये सज्जनों को किसने दरशाया है? (अर्थात् वे सहज स्वभाव ही से यह व्रत पालते हैं।) किन्तु आज से मैं भी कुछ धन्य हूँ कि-जिससे अब मैं भी तेरे समान वृद्धानुसारी हुआ हूँ।

वृद्धानुगामी पुरुषों का जैसे राग द्वेष मंद पड़ता है वैसे कामाग्नि भी शान्त होती है और उनका मन निरंतर प्रसन्न रहता है। वृद्धानुगामिता माता के तुल्य हितकारिणी है। दीपिका के तुल्य परमार्थ प्रदर्शिनी है और गुरु वाणी के तुल्य सन्मार्ग में ले जाने वाली है।

कदाचित् दैवयोग से माता विकृति को प्राप्त हो जाय परन्तु यह वृद्ध सेवा कदापि विकृत नहीं होती। वृद्ध-वाक्यरूप अमृत के समान झरने से सुन्दर मन रूप मानस सरोवर में ज्ञानरूप राजहंस भली भांति निवास करता है। जो मंदबुद्धि वृद्धमंडली की उपासना किये बिना ही तत्व जानना चाहते हैं, वह मानों किरणें पकड़कर उड़ना चाहते हैं।

वृद्धों के उपदेश रूप सूर्य को पाकर जिसका मन रूपी कमल विकसित नहीं हुआ, वहां गुण लक्ष्मी कैसे निवास कर सकती है? जिसने अपनी आत्मा को वृद्ध वाणी रूप पानी से प्रक्षालन नहीं किया, उस रंकजन का पाप-पंक किस भांति दूर हो?

वृद्धानुगामी पुरुषों को हथेली पर संपदा रहती है क्योंकि, क्या कल्पवृक्ष पर चढ़े हुए को भी कभी फल प्राप्ति में बाधा आ

कहा है कि-विपत्ति में साहस रखना, महापुरुषों के मार्ग का अनुसरण करना न्याय से वृत्ति प्राप्त करना, प्राण जाते भी दुष्कार्य न करना, असत् पुरुषों की प्रार्थना नहीं करना, तब थोड़े धन वाले मित्र से भी याचना नहीं करना। इस प्रकार से तलवार की धार समान विषम व्रत पालने के लिये सज्जनों को किसने दरशाया है? (अर्थात् वे सहज स्वभाव ही से यह व्रत पालते हैं।) किन्तु आज से मैं भी कुछ धन्य हूँ कि-जिससे अब मैं भी तेरे समान वृद्धानुसारी हुआ हूँ।

वृद्धानुगामी पुरुषों का जैसे राग द्वेष मंद पड़ता है वैसे कामाग्नि भी शान्त होती है और उनका मन निरंतर प्रसन्न रहता है। वृद्धानुगामिता माता के तुल्य हितकारिणी है। दीपिका के तुल्य परमार्थ प्रदर्शिनी है और गुरु वाणी के तुल्य सन्मार्ग में ले जाने वाली है।

कदाचित् दैवयोग से माता विकृति को प्राप्त हो जाय परन्तु यह वृद्ध सेवा कदापि विकृत नहीं होती। वृद्ध-वाक्यरूप अमृत के समान झरने से सुन्दर मन रूप मानस सरोवर में ज्ञानरूप राजहंस भली भांति निवास करता है। जो मंदबुद्धि वृद्धमंडली की उपासना किये बिना ही तत्व जानना चाहते हैं, वह मानों किरणें पकड़कर उड़ना चाहते हैं।

वृद्धों के उपदेश रूप सूर्य को पाकर जिसका मन रूपी कमल विकसित नहीं हुआ, वहां गुण लक्ष्मी कैसे निवास कर सकती है? जिसने अपनी आत्मा को वृद्ध वाणी रूप पानी से प्रक्षालन नहीं किया, उस रंकजन का पाप-पंक किस भांति दूर हो?

वृद्धानुगामी पुरुषों को हथेली पर संपदा रहती है क्योंकि, क्या कल्पवृक्ष पर चढ़े हुए को भी कभी फल प्राप्ति में बाधा आ

सकती है ? वृद्धोपदेश जहाज के समान है, उसमें सत्-पन रूप काष्ट है, वह गुणरूप रस्सी से बंधा हुआ है, व उसी के द्वारा भव्य जन दुस्तर रागसागर को तैरकर पार करते हैं। वृद्ध सेवा से प्राप्त हुआ विवेक रूप वज्र प्राणियों के मिथ्यात्वादिक पर्वतों को तोड़ने में समर्थ होता है।

सूर्य की प्रभा के समान वृद्ध सेवा से मनुष्यों का अज्ञान रूपी अंधकार क्षणभर में नष्ट हो जाता है। अकेली वृद्ध सेवा रूप स्वाति की वृष्टि प्राणियों के मन रूपी सीपों में पड़कर सद्गुण रूपी मोती उत्पन्न करती है। वृद्ध सेवा में तत्पर रहने वाले पुरुष समस्त विद्याओं में कुशल होते हैं और विनय गुण में बिना परिश्रम कुशलता प्राप्त करते हैं। वृद्ध जनों द्वारा तत्व को समझाया हुआ पुरुष शरीर, आहार, और काम भोगों में भी शीघ्र ही विरक्त हो सकता है।

ज्ञान ध्यानादिक से रहित होते भी जो वृद्धों को पूजता है वह संसार रूपी वन को पार करके महोदय प्राप्त करता है। तीव्र तप करता हुआ तथा अखिल शास्त्रों को पढ़ता हुआ भी जो वृद्धों की अवज्ञा करता है, वह कुछ भी कल्याण नहीं प्राप्त कर सकता है। जगत् में ऐसा कोई उत्तम धाम नहीं तथा ऐसा कोई अखंड सुख नहीं कि-जो वृद्ध सेवक पुरुष प्राप्त नहीं कर सकता। जिसे पाकर मनुष्यों को स्वप्न में भी दुर्गति नहीं होती; वह वृद्धानुसारिता चिरकाल विजयी रहो।

इस प्रकार मध्यमकुमार के वचन सुन मनीषिकुमार बहुत प्रसन्न होता हुआ अपने स्थान को आया व मध्यमकुमार भी धर्मपरायण हुआ।

इधर बाल माता व कुमित्र से बारंबार प्रेरित होकर;

दुष्टाशय बन, रात्रि होने पर शत्रुमर्दन राजा के महल में गया। उस समय रानी मदनकंदली मंडन शाला में अपने को नाना प्रकार के शृंगारों से विभूषित कर रही थी। वह पापिष्ट बाल दैवयोग से झट ही वासगृह में घुस गया व राजा की शय्या में अहो कैसा स्पर्श है ऐसा बोलता उस पर सो गया।

इतने में राजा को आता हुआ देख बाल भयभीत हो, शय्या के नीचे कूद पड़ा। ज्यों ही यह राजा जान गया त्योंही क्रोधित हो अपने सेवकों को कहने लगा कि—इस नीच मनुष्य को रात्रि भर इसी गृह में सजा दो। तब उसने इसे पकड़ कर वज्र के कांटेवाले थंभे से बांधा। उस पर तपा हुआ तैल छिड़का तथा उसे चाबुक से ताड़ना की। उसकी अंगुलियों के पेरुओं में लोहे की शलाकाएं पहिनाई। इस प्रकार की विटम्बना पाकर बाल ने सारी रात रोते रोते व्यतीत करी।

सुबह में कुपित राजा की आज्ञा से उसके रक्षकों ने उसको गेरू व चूने का तिलक कर, माथे पर कलंगी बांध, गले में नीम के पत्तों की माला पहिनाकर के कान कटे हुए गधे पर चढ़ाया। पश्चात् कोई उसे, शिकारी जैसे रींछ को खींचता है वैसे, बाल पकड़ कर खींचने लगा। कोई भूत लगे हुए को भोपा (मांत्रिक) जैसे थप्पड़ लगाता है वैसे, थप्पड़ लगाने लगा। कोई घर में घुसे हुए कुत्ते को जैसे मारते हैं वैसे उसे लकड़ी मारने लगा। इस भांति विटंबनापूर्वक सारे शहर में घुमाकर संध्या समय उसे वृक्ष में फांसी पर लटका कर वे रक्षक नगर में आये।

अब दैवयोग से फांसी टूट जाने से बाल भूमि पर गिर पड़ा व थोड़ी देर में उसे सुधि आई तो वह धीरे धीरे आकर घर में छिप रहा। क्योंकि राजा के भय से बाहिर निकलता ही नहीं था।

इतने में उस नगर के स्वविलास नामक उद्यान में प्रबोधन-रति नामक मुनीन्द्र का आगमन हुआ। तब उद्यान पालक के मुख से गुरु का आगमन सुन, हर्षित हो, अपनी माता के साथ हो, मनीषीकुमार ने मध्यम को भी साथ में बुलाया। व मध्यमकुमार ने हठ कर बाल को साथ में लिया। इस भांति तीनों व्यक्ति अत्यन्त कौतुक से भरे हुए उद्यान में गये।

वहां प्रमोदशेखर नामक जिनेश्वर के चैत्य में युगादि देव की प्रतिमा को मध्यमकुमार व मनीषी ने नमन किया। पश्चात् देव की दक्षिण ओर स्थित उक्त मुनीश्वर को नमन करके, कर्म के मर्म को बतानेवाली शुद्ध धर्म की देशना सुनने लगे। परन्तु बालकुमार माता व कुमित्र के दोष से देहाती की भांति शून्य मन से जरा नम कर भाइयों के समीप बैठ गया।

इतने में जिनेश्वर के सद् भक्त सुबुद्धि मंत्री की प्रेरणा से राजा मदनकंदली सहित उक्त चैत्य में आया। वह (राजा) जिन व गुरु को नमन करके उपदेश सुनने लगा, व सुबुद्धि मंत्री इस प्रकार जिनेश्वर की स्तुति करने लगा।

हे देवाधिदेव! आधिव्याधि की विधुरता के नाश करने वाले, सर्वदा सर्व प्रकार के दारिद्र की मुद्रा को गलाने में समर्थ, अगणित पवित्र कारुण्य रूप पण्य के आपण (बाजार) समान, वृषभ ध्वजधारी, संदेह रूपी पर्वत को तोड़ने में वज्र समान। तीव्र कषाय रूप संताप का शमन करने के लिये अमृत समान, संसार रूप वन को जलाने के लिये दावानल समान पवित्रात्मा आप की जय हो।

हे सर्वदा सदागम रूप कमल को विकसित करने के हेतु सूर्य समान! आपको नमन करने से भव्य प्राणी संसार में गिरने से

बचते हैं। हे देवों के देव ! गंभीर नाभिवाले नाभिराजा के पुत्र, तेरे अति गुणों से जो स्वयं बंधते हैं, वे उलटे मुक्त होते हैं। यह आश्चर्य की बात है। हे देव ! तेरा नाम रूपी सन्मंत्र जिसके चित्त में चमकता नहीं उसको लगा हुआ मोहरूपी सर्प का विष किस प्रकार उतर सकता है ?

हे देव ! जो तेरे चरण कमल को नित्य स्पर्श करते हैं, उनको तीर्थंकर आदि की पदवी अधिक दूर नहीं रहती। सम्यक् दर्शन, ज्ञान, वीर्य व आनन्दमय और अनंतों जीवों के रक्षण करने में चित्त रखने वाले आपको नमस्कार हो।

इस प्रकार युगादि जिन का जो मनुष्य नित्य स्तवन करते हैं वे देवेन्द्र समूह को वन्दनीय होकर महोदय प्राप्त करते हैं। इस प्रकार तीर्थंकर की स्तुति करके, मंत्रीश्वर हर्ष पूर्वक सूरि महाराज के चरणों में नमकर, इस प्रकार देशना सुनने लगा।

मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं। अधम, मध्यम, व उत्तम। उनमें जो अधम होते हैं वे दुःख दायक स्पर्शन में लीन रहते हैं। जो मध्यम होते हैं वे मध्यवर्त्ती होते हैं और जो उत्तम होते हैं, वे स्पर्शन के सदा शत्रु रहते हैं। अधम नरक में जाते हैं। मध्यम स्वर्ग में जाते हैं और उत्तम मोक्ष में जाते हैं।

यह उपदेश सुनकर मनीषीकुमार, मध्यमकुमार और राजा आदि अत्यन्त भावित हुए, किन्तु बाल तो एक मन से मदनकंदली की ओर ही देखता रहा। इतने में कुमित्र और माता की प्रेरणा से पुनः वह रानी के सन्मुख दौड़ा, तो राजा कुपित होकर बोला कि-अरे ! यह तो वही बाल है। तब राजा के भय से कामावेशी बाल भागने लगा व भागता भागता थककर अचेत हो भूमि पर गिर पड़ा।

किन्तु मनीषीकुमार तो उक्त मुनीश्वर से इस प्रकार विनंति करने लगा कि–हे भगवन्! मुझे तो आप संसार समुद्र से तारने वाली दीक्षा ही दीजिये।

तब सूरि बोले कि–हे वत्स! इसमें बिलकुल आलस्य मत कर। पश्चात् राजा विस्मित हो कर मनीषी को कहने लगा कि–कृपा करके मेरे गृह पर पधारिए और मुझे क्षणभर प्रसन्न करिए, कि जिससे हे महाभाग! मैं आपका निष्क्रमणोत्सव करूं।

तब राजा की अनुवृत्ति से वह राजमहल को गया। वहां राजा को आनंदित करता हुआ सात दिन तक रहा। आठवें दिन स्नान विलेपन कर, मुक्तालंकार पहिन जरी के किनार वाले वस्त्र धारण कर उत्तम रथ, कि जिसके ऊपर राजा सारथी होकर बैठा था। उस पर आरूढ़ हो, जंगम कल्पवृक्ष के समान उत्कृष्ट दान देता हुआ, दो चामरों से विजायमान, श्वेत छत्र से शोभित, भाटचारणों के द्वारा दृढ़ प्रतिज्ञा के लिये प्रशंसित होता हुआ, और उसके अद्भुत गुणों से प्रसन्न होकर उसी समय आये हुए देवों से इन्द्र के समान स्तूयमान होता हुआ, वह कुमार बहुत से घुड़ सवार, हाथी सवार, पैदल, रथवान तथा अमात्य व मध्यम के साथ सूरि से पवित्र हुए उक्त स्थान पर आ पहूँचा।

पश्चात् रथ से उतर कर पातक से उतरा हो उस भांति पूर्वोक्त प्रमोदशेखर नामक चैत्य के द्वार पर क्षणभर खड़ा रहा।

इतने में राजा को भी मनीषी का चरित्र सम्यक् रीति से, निर्मल अन्तःकरण से विचारते हुए, चारित्र परिणाम उत्पन्न हुआ कि–जो धर्म रूप कल्पवृक्ष की वृद्धि करने के लिये मेघ समान है। इस भांति देखो! वृद्धानुगामित्व, प्राणियों के सकल मनोरथ पूर्ण करने के लिये कामधेनु समान होता है।

वे आगमानुसार चिरकाल तक विहार कर, अंत समय आने पर आराधना की विधि संप्राप्त कर, निर्मल ध्यान से कर्मों को हलके कर मध्यमकुमार आदि स्वर्ग को गये तथा मनीषीकुमार मुक्ति को पहुँचा।

अब गुरु ने बाल के लिये जो भविष्यवाणी कही थी, वह सब वैसी ही हुई। क्योंकि मुनिजन का भाषण अन्यथा नहीं हो सकता।

इस प्रकार वृद्धानुगत्व रूप गुणधारी मध्यम बुद्धिकुमार का धर्म कर्म करने से, स्वर्ग व मोक्ष सुख का फल-दाता, कुन्द के पुष्प व चन्द्र समान स्वच्छ यश सुनकर, हे भव्यों! दुःख रूप तृण को जलाने के लिये अग्नि समान, पुण्य रूप कंद की वृद्धि करने को मेघ समान, संपदा रूप धान्य की उपज के बीज समान तथा सकल गुणोत्पादक इस वृद्धानुगत्व रूप गुण में यत्न करो।

इस प्रकार मध्यमबुद्धि का चरित्र समाप्त हुआ।

वृद्धानुगत्व रूप सत्रहवां गुण कहा। अब अठारहवें विनयगुण के विषय में कहते हैं—

विणओ सव्वगुणाणं, मूलं सन्नाणदंसणाईण।

मुक्खस्स य ते मूलं, तेण विणीओ इह पसत्थो ॥२५॥

मूल का अर्थ—विनय ही सम्यक् ज्ञान दर्शन आदि सकल गुणों का मूल है, और वे गुण ही मोक्ष के मूल हैं, जिससे इस जगह विनीत को प्रशस्त माना है।

टीकार्थ —विशेषकर ले जाये जाय याने दूर किये जा सकें अथवा नष्ट किये जा सकें, आठ प्रकार के कर्म जिसके द्वारा, वह विनय कहलाता है। ऐसी समय संबंधी याने जिनसिद्धान्त की निरुक्ति है।

क्योंकि चातुरंत (चार गति के कारण) संसार का विनाश के लिए अष्ट प्रकार का कर्म दूर करता है। इससे संसार को विलीन करने वाले विद्वान उसे विनय कहते हैं।

वह दर्शन विनय, ज्ञान विनय, चारित्र विनय, तप विनय और औपचारिक विनय, इन भेदों से पांच प्रकार का है।

दर्शन में, ज्ञान में चारित्र में, तप में और औपचारिक: इस भांति पांच प्रकार का विनय कहा हुआ है।

द्रव्यादि पदार्थ की श्रद्धा करते, दर्शन विनय कहलाता है। उनका ज्ञान संपादन करने से ज्ञान विनय होता है। क्रिया करने से चारित्र विनय होता है और सम्यक् प्रकार से तप करने से तप विनय कहा जाता है।

औपचारिक विनय संक्षेप में दो प्रकार का है:—एक प्रतिरूप योगयुंजन और दूसरा अनाशातना विनय।

प्रतिरूप विनय पुनः तीन प्रकार का है:—कायिक, वाचिक और मानसिक। कायिक आठ प्रकार का है। वाचिक चार प्रकार का है और मानसिक दो प्रकार का है—उसकी प्ररूपणा इस प्रकार है।

कायिक विनय के आठ भेद इस प्रकार हैं—गुणवान मनुष्य के आते ही उठकर खड़े हो जाना, वह अभ्युत्थान, उनके सन्मुख हाथ जोड़कर खड़े रहना वह अंजलि, उनको आसन देना

सो आसन प्रदान, गुरु के आदेश करने का संकल्प करना सो अभिग्रह, उनको वन्दन करना सो कृतिकर्म, उनको आज्ञा सुनने को उद्यत रहना पग चंपी करना सो शुश्रूषा, गुरु आवे तब उनके सन्मुख जाना सो अनुगमन और गुरु जावे तब उनके पीछे हो जाना सो संसाधन।

वाचिक विनय के चार भेद इस प्रकार हैं:—हितकारी बोलना, मित (आवश्यकतानुसार) बोलना, अपरूप (मधुर) बोलना, और अनुपाती-विचार करके बोलना।

मानसिक विनय के दो प्रकार इस भांति हैं:—अकुशल मन का निरोध करना और कुशल मन की उदीरणा करना, अर्थात् बुरा नहीं विचारना और भला विचारना।

इस भांति प्रतिरूप विनय परानुवृत्तिमय है, केवलज्ञानी अप्रतिरूप विनय करते हैं।

इस प्रकार प्रतिपत्ति रूप तीन प्रकार के विनय का वर्णन किया, अब अनाशातना विनय के बावन भेद हैं यथा——

तित्थयर-सिद्ध-कुल-गण-, संघ-किरिय-धम्म-नाण-नाणीणं।
आयरिय-थेरुवज्झाय-, गणीण तेरस पयाइं॥
अणासायणा य भत्ती बहुमाणो तहय वन्न संजलणा।
तित्थयराई तेरस, चउग्गुणा हुंति बावन्ना॥

तीर्थंकर, सिद्ध, कुल, गण, संघ, क्रिया, धर्म, ज्ञान, ज्ञानी, आचार्य, स्थविर, उपाध्याय और गणी, इन तेरह पद की आशातना करने से दूर रहना, भक्ति करना, बहुमान करना तथा प्रशंसा करना। इस भांति चार प्रकार से तेरह पद गिनते बावन प्रकार होते हैं।

इस प्रकार का विनय सर्व गुणों का मूल है।

तथा चोक्तं--विणओ सासणे मूलं, विणीओ संजओ भवे।
विणयाओ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तवो॥

विनय ही जिन शासन का मूल है। इसलिये संयत साधु को विनीत होना चाहिये। कारण कि- विनय रहित व्यक्ति को धर्म व तप कैसे हों।

सर्व गुण कौन से? सो कहते हैं कि-सम्यक् दर्शन ज्ञान आदि गुण, उनका मूल विनय ही है।

उक्तंच--विणया नाणं, नाणाउ दंसणं दंसणाउ चरणं तु।
चरणाहिंतो मुक्खो, मुक्खे सुक्खं अणावाहं॥

विनय से ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान से दर्शन प्राप्त होता है। दर्शन से चारित्र प्राप्त होता है। चारित्र से मोक्ष प्राप्त होता है और मोक्ष प्राप्त होने से अनन्त अव्याबाध सुख प्राप्त होता है।

उससे क्या होता है सो कहते हैं:-- चकार पुनः शब्द के अर्थ से उपयोग किया है। उसे इस प्रकार जोड़ना कि- वह पुनः गुण मोक्ष का मूल है। कारण कि- सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र, यही मोक्ष का मार्ग है। उस कारण से विनीत पुरुष ही इस धर्माधिकार में प्रशस्त याने विख्यात है। भुवनकुमार के सदृश।

भुवनतिलककुमार की कथा इस प्रकार है।

शुचि पाणिज (पवित्र पानी से उत्पन्न हुआ) और सुपत्र (सुन्दर पखड़ियों वाला) कुसुम (फूल) समान शुचिवाणिज्य (सुव्यापार वाला) सुपात्र (श्रेष्ठ लोगों वाला) कुसुमपुर

नामक नगर था। उसमें धनद (कुबेर) के समान अति धनवान धनद नामक राजा था। उसकी पद्मशय (श्रीकृष्ण) के जैसे पद्मा स्त्री थी वैसी पद्मावती नामक रानी थी। उनके शेष पुरुषों में तिलक समान भुवनतिलक नामक पुत्र था।

उस कुमार के रूपादिक गुण कामदेवादिक के समान थे, परन्तु उसका विनय गुण तो अनुपम ही था। वह अवसर प्राप्त होने पर, महासमुद्र में से जैसे मेघ जलपूर्ण बादल ग्रहण करता है वैसे, विनयनम्र होकर उपाध्याय रूप महासमुद्र से कलाएं ग्रहण करने लगा। उसके वैसे विनय गुण से, उसे ऐसी विद्या प्राप्त हुई कि- जिससे उसने देवांगनाओं के मुख को भी मुखर बना दिया अर्थात् वे उसकी प्रशंसा करने लगीं।

एक दिन राजा आस्थान सभा में बैठा था, इतने में प्रसन्न हुआ द्वारपाल उसको इस प्रकार विनंती करने लगा कि- हे स्वामिन् ! रत्नस्थल नगराधीश राजा अमरचन्द का प्रधान बाहिर आकर खड़ा है। उसके लिये क्या आज्ञा है ? राजा ने कहा कि-शीघ्र उसे अन्दर भेजो। तदनुसार छड़ीदार उसे अन्दर लाया। वह राजा को नमन करके बैठने के अनन्तर इस प्रकार कहने लगा।

हे धनद नरेश्वर ! आपको मेरे स्वामी अमरचन्द ने कहलाया है कि-मेरी यशोमती नामक श्रेष्ठ पुत्री है। वह विद्याधरीओं द्वारा गाये हुए आपके पुत्र के निर्मल गुण श्रवण कर चिरकाल से उस पर अत्यन्त अनुरक्त हुई है। और वह, कमलिनी जैसे सूर्य की ओर रहती है वैसे कुमार ही का सदैव चिन्तवन करती हुई फूल तंबोल आदि छोड़कर जैसे वैसे दिवस बिताती है।

वह बाला (आपके कुमार बिना) अपने जीवन को भी तृण के समान त्याग देने को तत्पर हो गई है, किन्तु अभी

जीवित है वहां तक हे नरेश्वर! आप प्रथम के स्नेह में वृद्धि करने के हेतु हमारी प्रार्थना सफल करो और आपके पुत्र को वहां भेजकर उसका लक्षण पूर्ण हाथ उसके हाथ के साथ मिलवाओ।

तब राजा ने मतिविलास नामक मंत्री के मुख की ओर देखा, तो वह विनय पूर्वक कहने लगा कि– हे स्वामिन्! यह मांग बराबर योग्य है। इसलिये स्वीकार करो।

तब राजा ने उक्त प्रधान पुरुष को कहा कि–जैसा कहते हो वैसा ही करो। तब वह प्रधान पुरुष अत्यंत हर्षित हो राजा के दिये हुए निवास स्थान में आया।

पश्चात् राजा ने अनेक सामन्त और मंत्रियों के साथ कुमार को वहां जाने की आज्ञा दी। तदनुसार वह अस्खलित चतुरंग सेना लेकर रवाना हुआ। वह मार्ग में अतिदूर स्थित सिद्धपुर नगर के बाहर आ पहुँचा। उस समय वह मूर्छित होकर बंद नेत्र से रथ के सन्मुख भाग में लुढक पड़ा। यह देख मध्यम के सैन्य में सहसा कोलाहल मच गया। जिससे आगे पीछे का तमाम सैन्य भी वहां एकत्र हो गया। तब मंत्री आदि कुमार को मधुर वचनों से बहुत ही पुकारने लगे किन्तु कुमार काष्ठ के समान निश्चेष्ट होकर कुछ भी न बोल सका।

वे सब व्याकुल होकर विविध प्रकार के औषध, मंत्र, तंत्र, और मणि आदि के विविध उपचार करने लगे, किन्तु कुमार को कुछ भी लाभ न हुआ। बल्कि वेदना अधिक अधिक होने लगी व उसके सर्व अंग विकल होने लगे। तब मंत्री आदि करुण स्वर से इस प्रकार विलाप करने लगे कि–

हाय, हाय! हे गुण रत्न के महासागर, अनुपम विनय

कहा भी है कि–

विनय का फल शुश्रूषा है। शुश्रूषा का फल श्रुतज्ञान है। ज्ञान का फल विरति है। विरती का फल आश्रव निरोध है अर्थात् संवर है। संवर का फल तपोवल है। तप का फल निर्जरा है। निर्जरा से क्रिया की निवृत्ति होती है। क्रियानिवृत्त होने से अयोगित्व होता है। अयोगित्व (योग निरोध) से भव संतति का क्षय होता है। भव संतति के क्षय से मोक्ष होता है। इसलिये विनय सकल कल्याण का भाजन है। व जैसे झाड़ के मूल में से स्कंध (पींड) होता है, स्कंध में से शाखाएं होती हैं। शाखाओं से प्रति शाखाएं होती हैं। प्रतिशाखाओं में से पत्र, पुष्प, फल और रस होता है। ऐसे ही विनय धर्म का मूल है, और मोक्ष उसका फल है। विनय ही से कीर्ति तथा समस्त श्रुतज्ञान शीघ्र प्राप्त किया जा सकता है।

इस प्रकार गुरु का वचन सुन वासव मुनि, पवन से जैसे दावानल बढ़ता है। वैसे सर्प के समान क्रूर होकर कोप से धकधकाता हुआ अधिक जलने लगा।

एक समय अकार्य में प्रवृत्त होने पर अन्य मुनियों के मना करने पर वह उन पर भी अतिशय प्रद्वेषी होकर इहलोक-परलोक से बेदरकार हो गया। सबको मारने के वास्ते पानी के अन्दर तालपुट विष डालके वह भयभीत हुआ एक दिशा में भग गया।

इतने में गच्छ पर अनुकंपा रखने वाली देवी ने वह बात बताकर आहार करने को उद्यत हुए सर्व साधुओं को रोका।

वह वासव वन में चला गया। वहां किसी स्थान में दावानल में फंसकर जल मरा व सातवीं नरक में अप्रतिष्ठान

नामक स्थल में महान् आयुष्य वाला याने कि तैतीस सागरोपम की आयुष्य से नारकी हुआ। वहां से मत्स्य हुआ, वहां से पुनः नरक में गया। इस प्रकार हर स्थान में दहन, छेदन व भेदन की वेदना से पीड़ित होता रहा। ऐसा बहुत से भव भ्रमण करके, पश्चात् किसी जन्म में अज्ञान तप कर धनद राजा का यह अतिवल्लभ पुत्र हुआ है।

ऋषिघात में तत्पर होकर पूर्व में इसने जो अशुभ कर्म-संचय किया है। उसके शेष के वश से इस समय यह कुमार ऐसी अवस्था को प्राप्त हुआ है। तब भयातुर कंठीरव ने प्रणाम कर उक्त ज्ञानी से कहा कि- हे नाथ! अब वह किस प्रकार आराम पावेगा? तब मुनीश्वर बोले -

इसका वह कर्म लगभग क्षीण होने आया है। और इस समय वह वेदना से रहित हो गया है व यहां आने पर उसे सर्वथा आराम हो जावेगा। यह सुन मंत्री आदि लोग प्रसन्न होते हुए कुमार के पास पहुँचे और देखा कि कुमार लगभग सावधान हो गया है। उसको उन्होंने केवली का कहा हुआ पूर्वभवादिक का वृत्तान्त कह सुनाया। तब वह भयातुर होने के साथ ही प्रमुदित होकर सुगुरु के पास गया। व उसने कंठीरव आदि के साथ सूरि को वन्दना करके अति भयानक संसार के भय से डरते हुए दीक्षा ग्रहण की।

यह बात सुन यशोमती ने भी वहां आकर दीक्षा ली, शेष लोगों ने वहां से लौटकर यह बात राजा धनद को सुनाई।

अब कुमार पूर्वकृत अविनय के फल को मनमें स्मरण करता हुआ अतिशय विनय में तत्पर रहकर थोड़े ही समय में गीतार्थ हो गया। वह अब वैयावृत्त्य और विनय में ऐसा

दृढ़ प्रतिज्ञ हुआ कि– उसके गुणों से संतुष्ट होकर देवता भी उसकी अनेक बार स्तुति करने लगे।

गुरु उसे बारंबार मधुर वचनों से उत्तेजित करते कि– हे महाशय! तेरा जन्म और जीवन सफल है। तूं राज्य त्याग कर राजर्षि हुआ है। तथापि द्रमक मुनि की भी विनय व वैयावृत्त्य करता है। जिससे तूं इस वचन को सच्चा करता है कि- कुलीन पुरुष पहिलों को नमन करते हैं और अकुलीन पुरुष ही वैसा करने में रुकते हैं। क्योंकि चक्रवर्ती भी जब मुनि होता है तो अपने से पहिले के समस्त मुनियों को नमन करता है।

इस प्रकार केवली भगवान् के उसकी उपबृंहणा करते भी उसने मध्यस्थ रहकर बहत्तर लाख पूर्व तक उक्त व्रत का निष्कलंकता से पालन किया। संपूर्ण अस्सीलाख पूर्व का आयुष्य पूर्णकर अंत में पादपोपगमन नामक अनशन करके संपूर्ण ध्यान मग्न रहकर, विमल ज्ञान प्राप्तकर, सकल कर्म संतान को तोड़ वह भुवनतिलक साधु भुवनोपरि सिद्धस्थान को प्राप्त हुआ।

इस प्रकार विनय गुण से सकल सिद्धि को पाये हुए धनद नृपति सुत का चरित्र सुनकर सकल गुणों में श्रेष्ठ और इस अखिल जगत् में विख्यात विनय नामक सद्गुण में अश्रान्त भाव से मन धरो।

इस प्रकार भुवनतिलक कुमार की कथा समाप्त हुई।

विनय (विनीतता) रूप अठारहवां गुण कहा। अब उन्नीसवें कृतज्ञता रूप गुण का अवसर है। वहां दूसरे के किये

हुए उपकार को भूले बिना जानता रहे वह कृतज्ञ कहलाता है। यह बात प्रतीत ही है जिससे उक्त गुण को फल के द्वारा कहते हैं।

बहुमन्नइ धम्मगुरुं परमुवयारि त्ति तत्तबुद्धीए।
ततो गुणाण वुड्ढी गुणारिहो तेणिह कयन्न्॥ २६॥

मूल का अर्थ— कृतज्ञ पुरुष धर्मगुरु आदि को तत्त्वबुद्धि से परमोपकारी मानकर उनका बहुमान करता है। उससे गुणों की वृद्धि होती है। इसलिये कृतज्ञ ही अन्य गुणों के योग्य माना जाता है।

टीका का अर्थ—बहुमानित करता है याने कि-गौरव से देखता है। धर्म गुरु को याने धर्मदाता आचार्यादिक को—(वह इस प्रकार कि) ये मेरे परमोपकारी हैं। इन्होंने अकारण मुझ पर वत्सल रह कर मुझे अतिघोर संसार रूप कुए में गिरते बचाया है। ऐसी तत्त्वबुद्धि से याने परमार्थ वाली मति से। वह इस परमागम के वाक्य को विचारता है कि हे आयुष्यमान श्रमणों! तीन व्यक्तियों का प्रत्युपकार करना कठिन है:—माता पिता, स्वामी तथा धर्माचार्य का।

कोई पुरुष अपने माता पिता को प्रातः संध्या में ही शतपाक व सहस्रपाक तैल से अभ्यंगन करके सुगन्धित गंधोदक से उद्वर्त्तन कर, तीन पानी से स्नान करा, सर्वालंकार से शृंगार कराकर, पवित्र पात्र में परोसा हुआ अट्ठारह शाक सहित मनोज्ञ भोजन जिमाकर यावज्जीवन अपनी पीठ पर उठाता रहे तो भी माता पिता का बदला नहीं चुक सकता।

अब जो वह पुरुष माता पिता को केवलि भाषित धर्म

कह कर, समझा कर, बताकर उसमें उनको स्थापित करे तभी माता पिता का यथोचित बदला चुकाया गिना जाता है।

हे आयुष्यमान श्रमणों! कोई महर्धिक पुरुष किसी दरिद्री को सहारा देकर ऊंचा करे, तब दरिद्री ऊंचा चढ़कर भी आगे पीछे बहुत ही बुद्धिमान होकर रहे। इतने में वह महर्धिक किसी समय दरिद्री होकर उक्त पूर्व के दरिद्री के पास आवे तब वह दरिद्री उक्त श्रेष्ठि को अपना सर्वस्व भी अर्पण करदे, तो भी उसका प्रतिकार नहीं कर सकता।

किन्तु जो वह दरिद्री उक्त स्वामी को केवलिभाषित धर्म कह कर, समझा कर, बताकर उसमें स्थापित करे तो उसका प्रतिकार कर सकता है।

कोई पुरुष उस प्रकार के श्रमण वा ब्राह्मण से एक मात्र भी आर्य धार्मिक सुवचन सुनकर कालक्रम से मृत्युवश हो किसी भी देवलोक में देवतापन से उत्पन्न हो तब वह देव उक्त धर्माचार्य को दुष्काल वाले देश से सुकाल वाले देश में जा रक्खे वा अटवी (वन) में से निकाल कर बस्ती वाले में लावे अथवा दीर्घ काल से रोग पीड़ित को रोग मुक्त , तो भी वह धर्माचार्य का बदला नहीं चुका सकता।

परन्तु जो वह उक्त धर्माचार्य को केवलि भाषित धर्म कह कर, समझा कर, बताकर उसमें उनको स्थापित करे, तभी बदला चुका सकता है।

वाचक शिरोमणि उमास्वाति ने भी कहा है कि—इस लोक में माता, पिता, स्वामी तथा गुरु ये दुष्प्रतिकार हैं। उसमें भी गुरु तो यहां व परभव में भी अतिशय दुष्प्रतिकार ही है।

उससे याने कि कृतज्ञता भाव से किये हुए गुरुजन के बहुमान से गुणों की याने क्षान्ति आदि अथवा ज्ञान आदि गुणों की वृद्धि होती है। (होती है यह क्रिया पद अध्याहार से ले लेना चाहिये)।

इस कारण से इस धर्माधिकार के विचार में गुणार्ह याने गुणों की प्रतिपत्ति करने के योग्य कृतज्ञ ही है। (कृतज्ञ शब्द का अर्थ ऊपर कहा ही है.) — धवलराज के पुत्र विमलकुमार के समान।

हे मित्र ! यह चक्र-अंकुश-कमल और कलश से शोभती हुई जिनके पग की पंक्ति दीखती है। वे निश्चय विद्यावरेश होना चाहिये। बाद अति कौतुक से उन्होंने आगे जाकर लतागृह के किनारे बैठे हुए परम रूपवान जोड़े को देखा। इतने में वहां लतागृह के ऊपर नंगी तलवारें हाथ में धारण किये हुए व मार मार करते दो पुरुष आये। उनमें से एक ने कहा कि-अरे निर्लज्ज ! तू अब वीर होकर सन्मुख आ और तेरे इष्टदेव का स्मरण कर तथा इस दीखती हुई दुनियां को बराबर देख ले।

यह सुन स्फुरित अत्यन्त कोप वश होठ कचकचाता हुआ हाथ में तलवार लेकर उक्त लतागृहस्थित विद्याधर बाहर निकला। पश्चात् उन दोनों का आकाश में अति भयंकर युद्ध हुआ कि-जिसमें वे जो ललकार करते थे तथा तलवारों की जो खटखट होती थी उससे विद्याधरियां चमक उठती थी।

अब साथ में जो दूसरा पुरुष आया था। वह लतागृह में प्रवेश करने लगा, तो पहिले जोड़े में की स्त्री भयभीत होकर बाहर निकली। वह विमल को देखकर बोली कि-हे पुरुषवर ! मुझे बचा। तब वह बोला कि-हे सुभगिनी ! विश्वास रख, तुझे भय नहीं है।

इतने में विमल को पकड़ने के लिये वह विद्याधर आकाश मार्ग से आगे बढ़ा। किन्तु विमल के गुणों से संतुष्ट हुई वनदेवी ने उसे स्तंभित कर दिया व उक्त लड़ते हुए मनुष्य को भी जोड़े के मनुष्य ने जीत लिया तो वह भागने लगा। इससे जोड़े में के मनुष्य ने भी उसे बराबर जीतने के लिये उसका पीछा किया।

यह हाल उस स्तंभित हुए मनुज्य ने देखा। जिससे उसको वहां जाने की इच्छा हुई, तो देवी ने शीघ्र उसे छोड़ दिया। वह

भी उनके पीछे लगा। पश्चात् तीनों दृष्टि से बाहिर हो गये। तब उक स्त्री रोने लगी कि हाय हाय ! हे नाथ ! आप मुझे छोड़कर कहां गये ? इतने में वह पुरुष जय प्राप्त करके आ गया। जिससे वह स्त्री अमृत से सिंचाई हो उस भांति आनंदित हुई।

वह विद्याधर विमल को नमन करके कहने लगा कि, तूं ही मेरा भाई व तूं ही मेरा मित्र है, क्योंकि तूं ने मेरी स्त्री को हरण होने से बचाया है। तब विमल बोला कि—हे कृतज्ञ शिरोमणि ! इस विषय में संभ्रम करने का काम नहीं। किन्तु इस का वृत्तान्त कह। तब वह इस प्रकार कहने लगा कि—

वैताढ्य पर्वत में स्थित रत्नसंचय नगर में मणिरथ नामक राजा था। उसकी कनकशिखा नामक भार्या थी। उनका विनयशाली रत्नशेखर नामक पुत्र है। व रत्नशिखा और मणिशिखा नामक दो श्रेष्ठ पुत्रियां हैं।

रत्नशिखा से मेघनाद नामक विद्याधर का प्रीतिपूर्वक विवाह हुआ। उनका मैं रत्नचूड़ नामक पुत्र हूँ। वैसे ही मणिशिखा का अमितप्रभ विद्याधर ने पाणिग्रहण किया। उसके अचल और चपल नामक दो बलवान पुत्र हुए। वैसे ही रत्नशेखर को भी उसकी रतिकान्ता नाम की स्त्री से यह प्रिय चूतमंजरी नामक पुत्री हुई है।

हम सब ने बाल्यावस्था में साथ साथ धूल में खेल कर अपने कुलक्रमानुसार विद्याएं ग्रहण की हैं। अब मेरा मामा उसके मित्र चन्दन नामक सिद्धपुत्र की संगति के योग से जैनधर्म में अत्यंत आसक्त हुआ। उस महाशय ने मेरे माता पिता तथा मुझ को जिनधर्म कह सुना कर श्रावक धर्म में धुरंधर बनाया है। उक्त चंदन सिद्धपुत्र ने मेरा कुछ चिह्न देखकर

मुझे कहा कि यह बालक थोड़े समय में विद्याधरों का चक्रवर्ती होगा।

यह सुन कर विमल कुमार को उसका मित्र कहने लगा कि-तेरा वचन मिलता आ रहा है। तब विमल बोला कि-यह कुछ मेरा वचन नहीं, किन्तु आगमभाषित है।

पुनः रत्नचुड़ बोला कि- मेरे मामा ने प्रसन्न होकर इस चूतमंजरी को मुझे दिया, जिससे मैंने इससे विवाह किया है। तब अचल व चपल क्रोधातुर होकर मेरा कुछ भी पराभव न कर सकने के कारण भूत के समान छिद्र देखते हुए दिवस विताने लगे। उनके छलभेद जानने के लिये मैं ने एक स्पष्टवक्ता गुप्तचर की योजना कर रखी थी। वह अचानक एक दिन आकर मुझे कहने लगा कि-

हे देव! उनको काली विद्या सिद्ध हुई है, और उन्होंने यह गुप्त सलाह की है कि-एक ने तो आपके साथ लड़ना और दूसरे ने आपकी स्त्री को हर ले जाना। तब मैं विचारने लगा कि भाइयों के साथ कौन लड़े। यह निश्चय कर मैं उनको निग्रह करने को समर्थ होते भी इस लतागृह में छिप रहा। उन दोनों को मैं ने जीत लिया है तथापि भाई समझ कर मारे नहीं। इसके अतिरिक्त प्रायः सभी तुम्हें ज्ञात ही है।

इसलिये इस मेरी स्त्री की रक्षा करके तू ने मेरे जीवन की रक्षा की है। अथवा तू ने सारी पृथ्वी को धारण कर रखा है कि-जिसकी उपकार करने में ऐसी तीव्र उत्कंठा है।

कहा भी है कि, यह पृथ्वी दो पुरुषों को धारण करे अथवा दो पुरुषों ने पृथ्वी को धारण की है। एक तो जिसकी उपकार

करने में मति होवे और दूसरा जो कि उपकार करके गर्व न करे। अतएव आज्ञा दीजिये कि-मैं आपका क्या इष्ट कार्य करूं ? तब दांत की कांति से भूवलय को प्रकाशित करता हुआ, विमल बोला-हे रत्नचूड़ तूं इसलोक में चूड़ामणि समान है। और तूंने अपना रहस्य प्रकट किया याने सब हो गया समझ।

कहा है कि-सज्जनों के हजारों वाक्यों से अथवा कोटिशः स्वर्ण मुद्राओं से कोई सुन्दरता सिद्ध नहीं होती, परन्तु उनके चित्त की प्रसन्नता ही से वास्तविक भाव मिलन होता है। तब प्रीतिपूर्वक विद्याधर बोला कि-हे कुमार ! कृपा कर यह चिंता-मणि समान एक रत्न है सो इसे ग्रहण करो।

विमल बोला कि मानले कि तूंने दिया और मैंने लिया किन्तु इसे अपने पास ही रहने दे तथा अति हठ करना छोड़ दे। विद्याधर ने निर्मल भाव विमल की निरीहता देख कर उसके कपड़े में उक्त रत्न बांध दिया। पश्चात् वामदेव को पूछने पर उसने हर्षित होकर उसे विमलकुमार के माता पिता का नाम स्थान बताया।

इस प्रकार आश्चर्यकारक विमलकुमार का वृत्तान्त सुनकर विद्याधर सोचने लगा कि-इसको मैं जिन प्रतिमा बता, धर्मबोध देकर उपकार का बदला दूं। पश्चात् विद्याधर बोला कि- हे कुमार ! इस वन में मेरे मातामह का बनवाया हुआ आदीश्वर भगवान का मंदिर है। इसलिये मुझ पर कृपा करके उसे देखने के लिये चलिये। इस बात को स्वीकार कर सब जिन मंदिर की ओर रवाना हुए।

वह मंदिर सैकड़ों थंभों पर बंधा हुआ था। जिससे ऐसा

प्रतीत होता था कि-मानो अनेक वृक्षों वाला उद्यान हो। त
आकाश में फहराती हुई ध्वजाओं से ऐसा दीखता था, मान
आकाश गंगा की लहरें बह रही हैं। उसके शिखर पर अत्यं
ऊंचे स्वर्णदंड थे तथा वह सुवर्ण कलशों से सुशोभित था। कह
उसकी चित्रकारी में बेल बूटे थे, कहीं मानो पुलकित शरीरवा
जीवित चित्र दीखते थे। कहीं कवचधारी चित्र थे। कह
स्फुरित इन्द्रियोंवाले चित्र थे। उनमें स्थान स्थान में हरिचंद
के फूलों के तख्ते भरे हुए थे और उसका जुड़ाई का का
इतना उत्तम था कि मानो वह एक ही पत्थर से बनाया है
ऐसा भाषित होता था।

उसमें विविध चेष्टा करती हुई अनेक पुतलियां थी। इस
वह ऐसा लगता था मानो अप्सराओं से अधिष्ठित मेरु क
शिखर हो। ऐसे जिनमंदिर में जाकर उन्होंने वहां ऋषभदे
भगवान की सुन्दर प्रतिमा देखी। जिससे हर्षित होकर उन्हों
उनको नमन किया।

अब उस अतिशय रमणीय और फैले हुए पाप रूप पर्व
को तोड़ने के लिये वज्र समान जिनबिंब को निर्निमेष नेत्र
द्वारा देखते हुए विमल कुमार विचार करने लगा कि-ऐस
स्वरूपवान बिम्ब मैंने पहिले भी कहीं देखा है। इस प्रका
विचार करता हुआ सहसा वह मूर्छित होकर भूमि पर गि
पड़ा।

तब उस पर हवा करने पर वह चैतन्य हुआ, तो विद्याधर
उसे आग्रह से पूछने लगा कि-यह क्या हुआ? तब रत्नचूड़ के
चरण छूकर विमल कुमार अत्यन्त हर्ष से उसकी इस प्रकार
स्तुति करने लगा कि-तूं मेरा माता पिता है। तूं मेरा भाई

से वृक्ष में अपने स्कन्ध को नहीं घिसता। तथा प्रायः प्राणी अपने भाव के अनुसार ही फल की इच्छा करते हैं। देखो! कुत्ता कवल मात्र से तृप्त रहता है, तो सिंह हाथी का कुंभस्थल विदीर्ण करके तृप्त होता है और चूहे को गेहूँ का एक दाना मिल जावे तो हाथ ऊंचे करके नाचता है और हाथी को मलीदा (पक्वान्न विशेष) राजा का दिया हुआ मिलने पर भी वह वेपरवाह होकर अवज्ञा से उसे खाता है।

प्रथम जिस समय मैंने तेरे वस्त्र में रत्न बांधा तब तूं उदास था और उस समय तुझ में हर्ष का लवलेश मात्र भी मेरे देखने में नहीं आया था। किन्तु अब जिन प्रवचन का लाभ होने से तूं हर्ष से रोमांचित हो गया है। हे उत्तम पुरुष! यही तेरी श्रेष्ठता की निशानी है। किन्तु मुझे जो तूं गुरु मानता है, सो तुझे योग्य नहीं। क्योंकि तूंने तो स्वयं ही प्रतिबोध पाया है। मैं तो मात्र निमित्तदर्शक हूँ। देखो! जिनेश्वर भगवान के स्वयंबुद्ध होते हुए यद्यपि उनको लोकांतिक-देव प्रतिबोधित करते हैं, किन्तु इससे वे उनके गुरु नहीं हो सकते। वैसा ही मुझे भी समझ।

तब राजकुमार बोला कि जिन भगवान तो संबुद्ध होते हैं। इससे उनके बोध में देवता-देव तो हेतु भूत भी नहीं होते। तूं तो मुझे ऋषभदेव स्वामी की प्रतिमा बताकर वास्तविक धर्म को प्राप्त कराने वाला होने से स्पष्टरीति से गुरु होता है।

कहा भी है कि-जिस साधु अथवा गृहस्थ को जिसने शुद्ध धर्म में लगाया हो, वह उसका धर्मदाता होने से उसका धर्मगुरु माना जाता है, और ऐसे शुभ गुरु के प्रति विनयादि करना

सत्पुरुषों को उचित है। क्योंकि- साधर्मी मित्र को भी वन्दनादिक करना कहा है।

विद्याधर बोला—हे राजकुमार! ऐसा मत बोल। तू ही गुणवान होने के कारण सब का गुरु है। तब कुमार बोला कि- गुणवान और कृतज्ञ-जनों का यही चिन्ह है कि- वे नित्य गुरु की पूजा करने वाले होते हैं।

कारण कि वे ही महात्मा हैं। वे ही धन्य हैं। वे ही कृतज्ञ हैं। वे ही कुलीन व धीर हैं। वे ही जगत् में वन्दनीय हैं। वे ही तपस्वी हैं और वे ही पंडित हैं कि-जो सुगुरु महाराज का निरन्तर दासत्व, प्रेष्यत्व, सेवकत्व तथा किंकरत्व करते हुए भी लज्जित नहीं होते। तथा मन, वचन व काया भी वही कृतार्थ हैं। जो गुणवान गुरु की आरोग्यता का चिन्तवन करने में, उनकी स्तुति करने में तथा विनय करने में सदैव लगे रहते हैं। सम्यक्त्व दायक का प्रत्युपकार तो अनेक भवों में करोड़ों उपकार करते भी नहीं हो सकता है। इसलिये हे सत्पुरुष! मैं तेरे प्रसाद से बोध पाया हूँ और दिक्षा लूंगा, किन्तु पिता आदि यहां मेरे बहुत से बांधव हैं। इससे जो उनको भी प्रतिबोध होवे तो मैं कृतकृत्य होऊं। इसलिये सुगुरु कौन है सो मुझे बता। तब विद्याधर हर्ष पाकर बोला कि-

बुध नामक आचार्य कि- जो जल से भरे हुए मेघ के समान गर्जना करने वाले हैं, वे जो किसी प्रकार यहां पधारें तो तेरे भाइयों को वे प्रतिबोध दें।

तब कुमार ने पूछा कि- हे महाभाग! उनको तूने कहां देखे हैं। वह बोला कि इसी उद्यान में जिनमंदिर के समीप गत अष्टमी को परिवार सहित मैं यहां आया था। तब जिनमं

सर्वौषधी, संभिन्नश्रोत, अवधिज्ञान, ऋजुमतिज्ञान, विपुलमतिज्ञान, चारणलब्धि, आशीविषलब्धि, केवलज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, पूर्वधरपन, अर्हत्पन, चक्रवर्तीपन, बलदेवपन, वासुदेवपन क्षीराश्रव, मध्वाश्रव, सर्पिराश्रवलब्धि, कोष्ठबुद्धि, पदानुसारि लब्धि, बीजबुद्धि, तेजोलेश्या, आहारकलब्धि, शीतलेश्या, वैक्रियलब्धि, अक्षीण महानस लब्धि, और पुलाकलब्धि इत्यादि लब्धियाँ परिणाम व तप के वश प्रकट होती हैं।

अब उसका विवरण करते हैं:—आमर्ष याने स्पर्श मात्र ही औषध रूप हो वह आमर्षौषधिलब्धि है। मूत्र और पुरीष के बिन्दु औषधि हो जाय वह विप्रौषधि है। दूसरे इस प्रकार व्याख्या करते हैं कि–विड् शब्द से विष्ठा और प्रशब्द से पेशाब लेना। जिससे वे तथा अन्य भी जिनके अवयव सुगंधित होकर रोग मिटा सकते हैं। उनको उस २ औषधि की लब्धिवाले जानना चाहिये।

जो सर्व ओर से सर्व इन्द्रियों से सर्वविषयों को ग्रहण करे अथवा भिन्न २ जाति के बहुत से शब्द सुन सके वह संभिन्न श्रोतलब्धिवान है।

सामान्य मात्र को ग्रहण करने वाला मनोज्ञानी ऋजुमति है। वह प्रायः विशेष को ग्रहण न करके घट सोचा जाय तो घट ही को ग्रहण करता है। वस्तु के विशेष पर्याय को ग्रहण करने वाला मनोज्ञानी विपुलमति कहलाता है। वह घड़े को सोचते हुए उसके सैकड़ों पर्याय से उसका ग्रहण कर सकता है।

जंघा व विद्या द्वारा जो अतिशय चलने में समर्थ है वह चारणलब्धिवान है, वहां जंघाचारण जंघाओं से सूर्य की किरणों की निश्रा से भी जा सकता है। वह एक उत्पात में रुचकवर पर

जाकर वहां से लौटते दूसरे उत्पात में नन्दीश्वर में पहुँच कर तीसरे उत्पात में अपने स्थान पर आ पहुँचता है। (ऊर्ध्वगति के हिसाब से) प्रथम उत्पात से पंडकवन में पहुँचे। दूसरे से नन्दनवन में आवे और तीसरे उत्पात में वहां से यहां आवे।

विद्याचारण पहिले उत्पात से मानुषोत्तर पर्वत पर जावे। दूसरे उत्पात से नंदीश्वर जावे और वहां के चैत्यों (जिन प्रतिमाओं) को वन्दन करके तीसरे उत्पात में वहां से यहां आवे (ऊर्ध्वगति में) पहिले उत्पात में नंदनवन को जाकर दूसरे में पंडकवन में जावे और तीसरे उत्पात में यहां आवे।

आशी याने दाढ़, उसमें रहे हुए विषवाला सो आशीविष तथा महाविष ऐसे दो प्रकार के होते हैं। वे दोनों पुनः कर्म और जाति के विभाग से चार प्रकार के होते हैं।

क्षीर मधु और सर्पिष् (घृत) ये उपमावाचक शब्द हैं। इनको झरने वाले इन्हीं २ लब्धि वाले हैं। धान्यपूर्ण कोष्टक (कोठार) समान सूत्रार्थ को धारण करने वाले कोष्ठ बुद्धि कहलाते हैं।

जो सूत्र के एक पद से बहुत सा श्रुत धारण करते हैं, वह पदानुसारी है और जो एक अर्थ पद से अनेक अर्थ समझे वह बीज बुद्धि है।

आहारक लब्धि वाले को आहारक शरीर होता है। उसका अंतरकाल जघन्य से एक समय है और उत्कृष्ट छः मास है। यह आहारक शरीर उत्कृष्टता से नव हजार आहारक शरीर होते हैं। चौदहपूर्वी संसार में निवास करते बारबार आहारक शरीर धारण करता है और उसी भव में तो मात्र दो बार धारण कर सकता है।

तीर्थंकर की ऋद्धि देखने के लिये अथवा अर्थ समझने के
लिये अथवा संशय निवारण करने के लिये जिनेश्वर के समीप
जाते समय आहारक शरीर करने की आवश्यकता पड़ती है।

आर्याएं, अवेदी, परिहारविशुद्ध चारित्रवन्त, पुलाक
लब्धिवन्त, अप्रमादी साधु, चौदह पूर्वी साधु, आहारक शरीरी
इनका कोई भी देवता संहार नहीं कर सकता।

वैक्रिय लब्धि के द्वारा क्षणभर में परमाणु के समान सूक्ष्म
हुआ जा सकता हैं। मेरु के समान विशाल बना जा सकता
है। वे आक की रूई के समान हलका हुआ जा सकता है। एक
वस्त्र में से करोड़ वस्त्र किये जाते हैं। एक घड़े में से करोड़ घड़े
किये जा सकते हैं और मन चाहा रूप किया जा सकता है।
विशेष क्या कहा जाय।

नरक में नारकी जीवों की विकुर्वणा उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त
रहती है। तिर्यंच और मनुष्य की विकुर्वणा चार मुहूर्त रहती
है और देव की विकुर्वणा पन्द्रह दिवस पर्यन्त रह सकती है।

अक्षीण महानस लब्धिवान् जो भिक्षा ले आवे तो उसे
स्वयं खाय तो खूट सकती है किन्तु दूसरे चाहे जितने व्यक्ति
खावें वह कदापि नहीं खुट सकती। उक्त लब्धियां भव्य पुरुष
को सब संभव हैं। अब भव्य स्त्री को कितनी संभव हैं सो
कहते हैं।

अभव्य पुरुष को ये दश लब्धियां तथा केवलीपन, ऋजुमति और विपुलमति, इस प्रकार तेरह लब्धियां नहीं होतीं। वैसे ही अभव्य स्त्री को ये तेरह तथा मधुक्षीराश्रवलब्धि भी नहीं होती। शेष हो सकती है।

अतएव इन आचार्य ने निश्चय वैक्रियलब्धि के प्रभाव से यह कुरूप किया था किन्तु इनका स्वाभाविक रूप तो यही है। इससे मैंने विस्मित होकर उनको तथा सर्व मुनियों को वन्दन किया। तब उन्होंने मुझे मुक्तिसुख का देने वाला धर्मलाभ दिया।

पश्चात् आचार्य ने क्षणभर उनको अमृत वृष्टि के समान उपदेश दिया। तब मैंने एक मुनि को पूछा कि इनका नाम क्या है? वे मुनि बोले कि-ये जगद्विख्यात बुध नामक लब्धि निधान हमारे गुरु हैं और ये अनियत विहार से विचरते हैं।

यह सुन मैं प्रसन्न हो गुरु को नमन करके अपने स्थान को गया और परोपकार करने में महान् गुरु भी अन्य स्थान को पधारे।

अब विमल कुमार भी जिनस्तुति करके मंदिर से बाहिर निकला। और मित्र को कहने लगा कि-इस रत्न को तूं यहीं संभालकर रख दे। क्योंकि-यह महारत्न किसी भी महान कार्य में काम आवेगा, व इसे आदर से सम्हाले बिना घर ले जाने से यह व्यर्थ जाता रहेगा। आपकी आज्ञा स्वीकार है। यह कहकर उसने वहीं गुप्तस्थान में वह रत्न गाड़ दिया। पश्चात् वे दोनों अपने २ घर को आये।

तदनन्तर कपटवश बुद्धि भ्रष्ट हुआ वह सामदेव का पुत्र सोचने लगा कि-विमल कुमार को ठग कर यह रत्न ले लेना चाहिये। इससे वह पीछा वहां आया। वहां उसने उक्त रत्न को निकालकर उसके स्थान में वस्त्र में लपेटा हुआ एक पत्थर गाड़ दिया और उक्त रत्न को दूसरे स्थान में गाड़ दिया। पश्चात् घर आकर रात्रि को पुनः विचार करने लगा कि-मैं उक्त रत्न को घर नहीं लाया, यह ठीक नहीं किया। क्योंकि-किसी

अभव्य पुरुष को ये दश लब्धियां तथा केवलीपन, ऋजुमति और विपुलमति, इस प्रकार तेरह लब्धियां नहीं होतीं। वैसे ही अभव्य स्त्री को ये तेरह तथा मधुक्षीराश्रवलब्धि भी नहीं होती। शेप हो सकती है।

अतएव इन आचार्य ने निश्चय वैक्रियलब्धि के प्रभाव से यह कुरूप किया था किन्तु इनका स्वाभाविक रूप तो यही है। इससे मैंने विस्मित होकर उनको तथा सर्व मुनियों को वन्दन किया। तब इन्होंने मुझे मुक्तिसुख का देने वाला धर्मलाभ दिया।

पश्चात् आचार्य ने क्षणभर उनको अमृत वृष्टि के समान उपदेश दिया। तब मैंने एक मुनि को पूछा कि इनका नाम क्या है? वे मुनि बोले कि-ये जगद्विख्यात बुध नामक लब्धि निधान हमारे गुरु हैं और ये अनियत विहार से विचरते हैं।

यह सुन मैं प्रसन्न हो गुरु को नमन करके अपने स्थान को गया और परोपकार करने में महान् गुरु भी अन्य स्थान को पधारे।

जिससे मैं कहता हूँ कि-जो किसी प्रकार बुध सूरि यहां आवें तो आपके व[illegible] को सुख पूर्वक धर्म बोध करें। क्योंकि-मेरे परिवार को भी धर्म में लाने के लिये उस समय उन परोपकारी महात्मा ने वैक्रियरूप धारण किया था। तब विमल बोला कि-हे सत्पुरुष! उक्त श्रमणकेशरी को तू ही प्रार्थना करके यहां ला। विद्याधर ने यह बात स्वीकार की। पश्चात् रत्नचूड़ नेत्रों में अश्रु लाकर कुमार को आज्ञा ले उसके गुण स्मरण करता हुआ अपने स्थान को आया।

अब विमल कुमार भी जिनस्तुति करके मंदिर से बाहिर निकला। और मित्र को कहने लगा कि–इस रत्न को तूं यहीं संभालकर रख दे। क्योंकि–यह महारत्न किसी भी महान कार्य में काम आवेगा, व इसे आदर से सम्हाले बिना घर ले जाने से यह व्यर्थ जाता रहेगा। आपकी आज्ञा स्वीकार है। यह कहकर उसने वहीं गुप्तस्थान में वह रत्न गाड़ दिया। पश्चात् वे दोनों अपने २ घर को आये।

तदनन्तर कपटवश बुद्धि भ्रष्ट हुआ वह सामदेव का पुत्र सोचने लगा कि–विमल कुमार को ठग कर यह रत्न ले लेना चाहिये। इससे वह पीछा वहां आया। वहां उसने उक्त रत्न को निकालकर उसके स्थान में वस्त्र में लपेटा हुआ एक पत्थर गाड़ दिया और उक्त रत्न को दूसरे स्थान में गाड़ दिया। पश्चात् घर आकर रात्रि को पुनः विचार करने लगा कि–मैं उक्त रत्न को घर नहीं लाया, यह ठीक नहीं किया। क्योंकि–किसी ने भी उसे देख लिया होगा तो वह ले जावेगा। इत्यादि आलजाल सोचते हुए उस पापी को बन्धन में रहे हुए हाथी के समान लेश मात्र भी निद्रा नहीं आई।

प्रातःकाल होते ही वह उठकर झटपट उस स्थान को गया और वह रत्न लेने लगा। इतने में विमलकुमार उसके घर को आया। तो कुमार को ज्ञात हुआ कि–वामदेव उद्यान में गया है। जिससे वह भी शीघ्र वहां आया। वामदेव ने उसको आता देख उतावल में रत्न जहां छिपाया था उसे भूलकर, भय से शून्य हृदय हो वह पत्थर का टुकड़ा निकालकर कमर में रख लिया। इतने में विमल ने आकर पूछा कि–हे मित्र ! तूं इतना

संभ्रान्त क्यों दीखता है ? वामदेव ने कहा-तेरे विरह से व्याकुल हो गया हूँ।

उसको धीरज देकर, कुमार उसके साथ जिनमंदिर में आया। पश्चात् कुमार तो मंदिर के अन्दर गया और वामदेव बाहिर ही खड़ा रहा। वामदेव को शंका हुई कि-कुमार ने मुझे जान लिया है। जिससे वह भय के मारे विवेकहीन होकर वहां से भागा। और दौड़ता २ तीन दिन में अट्ठावीस योजन चलकर मणि वाली गांठ छोड़कर देखने लगा तो उसमें उसने पत्थर का टुकड़ा देखा।

तब वह हाय ! हाय ! कर मूर्छित हो भूमि पर गिर पड़ा और सुधि में आने पर अनेक प्रलाप करने लगा।

उसने विचार किया कि-अभी भी वहां जाकर वह रत्न लाना चाहिये। जिससे वह मनमें बारंबार शोक करता हुआ स्वदेश की ओर लौटा।

हे कुमार! जिस समय आप जिनेश्वर को नमन करने के लिये मंदिर के अन्दर गये थे और मैं द्वार पर खड़ा था। उस समय सहसा वहां एक नंगी तलवार वाली विद्याधरी आई। उसने मेरे साथ रमण करने के लिये मुझे आकाश में उठाया। वह मुझे बहुत दूर ले गई। इतने में वहां एक दूसरी विद्याधरी आई। वह भी मेरे रूप पर मोहित हो मुझे उठा ले जाने को तैयार हुई। जिससे वे दोनों विद्याधरियां लड़ने लगीं व मैं भूमि पर गिर पड़ा। जिससे भाग निकला व आपके मनुष्यों को आ मिला तथा आपको भी मिला हूँ।

इस प्रकार उसकी कही हुई स्नेह युक्त वचन रचना से कुमार रंजित होकर बोला कि-अच्छा हुआ कि मैं तुझे दृष्टि से देख सका हूँ।

इतने में वामदेव मानो महान् पर्वत से दब गया हो अथवा वज्र से भेदित हुआ हो वैसी वेदना से व्याकुल हो गया। उसका सिर दुखने लगा। अंग टूटने लगा। दांत हिलने लगे। पेट में शूल होने लगा और सहसा आंखों की पुतलियां ऊंची चढ़ गईं।

तब विमलकुमार भी व्याकुल हुआ तथा वहां भारी हाहाकार मच गया। जिससे धवल नरेन्द्र भी वहां आ पहुँचा और बहुत से मनुष्य एकत्रित हो गये। अच्छे २ वैद्य बुलाये गये। उन्होंने अनेक उपचार किये परन्तु कुछ भी गुण न हुआ। इतने ही में विमलकुमार को रत्न की बात स्मरण हुई। कारण कि-वह सर्व रोग नाशक था। यह सोच वहां जाकर कुमार ने उसे देखा परन्तु वह नहीं मिला। जिससे वह खिन्न होकर पीछा मित्र के पास आया।

इतने में एक वृद्धा स्त्री को जंभाई आने लगी, उसने अपना अंग मरोड़ा। भुजाएं ऊंची करी व केश छोड़े। उसने चीखें मार कर विकराल रूप धारण किया। यह देख लोग भयभीत हो पूछने लगे कि-हे भगवती! तू कौन है? सो कह.

वह बोली कि मैं वनदेवता हूँ और मैंने इस वामदेव को ऐसा किया है, कारण कि-इस पापी ने विमल समान सरल मित्र के साथ भी प्रपंच किया है। इसने ऐसा २ कपट करके उक्त रत्न अमुक स्थान में छुपाया है। इसलिये सज्जनों के साथ उलटा चलने वाले इस वामदेव को मैं चूरचूर करूंगी।

तब विमल ने देवी को प्रार्थना करके अपने मित्र को छुड़ाया। इस समय वह धिक्कार पाकर तृण से भी हलका हो गया। तथापि विमल कुमार गांभीर्य गुण से स्वयंभूरमण समुद्र को भी जीतने वाला होकर (अति गंभीर होकर) उसकी ओर प्रथम के समान ही देखता हुआ किसी भांति भी क्रुद्ध न हुआ।

एक दिन कुमार मित्र के साथ जिनमंदिर में जा ऋषभदेव स्वामी की पूजा करके इस प्रकार स्तुति करने लगा। हे श्री ऋषभनाथ! आपके चरण के नख की कांति विजय हो कि-जो भाव शत्रु से भयभीत तीनों जगत् के जीवों को वज्रपिंजर के समान बचाती है।

हे देव! आपके निर्मल चरण कमल के दर्शन करने के हेतु प्रतिदिन दूर दूर से क्लेशकंकास छोड़ कर राजहंस के समान भाग्यशाली जन दौड़ते आते हैं।

हे जगन्नाथ! महान् भवदुःख जाल से घिरे हुए जीवों को आप ही एक मात्र शरण हो जैसे कि-शीत से पीड़ित मनुष्यों

को सूर्य ही शरण है। हे त्रिभुवन के प्रभु ! अमृत के समान आपके प्रवचन का परिणमन करने से लघुकर्मी जीव थोड़े ही समय में अजरामर पद प्राप्त करते हैं। हे श्रेष्ठ ज्ञान दर्शन युक्त देव! पानी से जिस प्रकार वस्त्र का मैल धुलता है वैसे ही द्रव्य तथा भाव से आपके दर्शन करने से प्राणियों का पाप रूप मैल नष्ट हो जाता है।

हे स्वामिन् ! आपका स्मरण करने से क्लिष्ट कर्मी जीव भी सिद्ध हो जाता है, क्योंकि रसायन के स्पर्श से क्या लोहा भी सुवर्णत्व नहीं पाता ? हे प्रभु ! आपके गुणों का स्तवन करने से निर्मल चित्त वाले भव्य प्राणियों के पाप गलते हैं। जैसे कि बरसात के पानी से जामुन के फल गल जाते हैं। हे त्रिजगदीश ! मेरे नेत्र आपके दर्शन के लिये आतुर हैं और मेरा भाल आपको नमन करने के लिये उद्यत है, इसलिये आप शीघ्र ही प्रत्यक्ष होइये। हे देवेंद्र-समूह वन्दित युगादि जिनेश्वर ! मैं आपकी इस प्रकार स्तुति करता हूँ, इससे भवोभव आपके चरणों की अविचल भक्ति दीजिये।

इस प्रकार धवलराजा के कुमार ने चन्द्र के समान निर्मल लेश्यावान् होकर आदीश्वर की स्तुति करके पंचाङ्ग नमस्कार किया। इतने में उसी समय वहां बहुत से विद्याधरों सहित रत्नचूड़ आ पहुँचा। उसने विमल की करी हुई स्तुति सुनी। जिससे वह हर्षित होकर इस प्रकार बोला—

हे सत्पुरुष ! तू ने बहुत ही श्रेष्ठ किया। तेरे संसार समुद्र का अंत आ गया है कि—जिससे चित्त में जिनेश्वर के ऊपर ऐसी निष्कलंक भक्ति उल्लसित हो रही है। पश्चात् देव को नमन करके

वे दोनों जने परस्पर प्रणामादिक करके बाहिर की मणिपीठिका पर हर्षित होकर बैठे। व शरीर संबंधी सुख शान्ति पूछ कर विद्याधरेन्द्र बोला कि-हे महाभाग! मुझे इतना काल विलम्ब क्यों हुवा जिसका कारण सुन।

उस समय तेरे पास से रवाना होकर मैं अपने नगर में गया व माता पिता के चरणों को नमा, तो उन्होंने आंख में हर्ष के अश्रु लाकर आशीष दी। पश्चात् वह दिन व्यतीत होने पर रात्रि को मैं देव गुरु का स्मरण कर शय्या में सो रहा था, तो द्रव्य से निद्रा आ गई किन्तु भाव से नहीं। नींद में मैंने सुना कि-मानो कोई मुझे कहता है कि-हे जिनेश्वर के भक्त उठ! उठ! यह सुन कर मैं जाग कर देखने लगा तो रोहिणी आदि विद्याएं मेरे सन्मुख खड़ी नजर आई।

वे बोली कि-तेरी धर्म में दृढ़ता देख हम प्रसन्न हो तेरे पुण्य से प्रेरित होकर तुझे सिद्ध हुई हैं। यह कह कर उन्होंने मेरे शरीर में प्रवेश किया। तब सर्व विद्याधरों ने मुझे विद्याधर चक्रवर्ती का अभिषेक किया। जिससे नवीन राज्य स्थापन करने में इतने दिवस व्यतीत हुए हैं।

इतने में तेरी आयसु मुझे याद आई जिससे मैंने अनेक देशों में भ्रमण किया। तब एक स्थान में मैंने अनेक शिष्यों के परिवार सहित बुधसूरि को देखा। उनको मैंने तेरा सर्व वृत्तान्त कहा। जिससे तुझ पर अनुग्रह करके वे प्रभु शीघ्र ही यहां आते हैं। इस कारण से हे कुमार! मुझे काल विलम्ब हुआ है। इस प्रकार वह विद्याधर कह ही रहा था कि इतने में वे भगवान आ पहुँचे।

और मंद की परस्पर दृढ़ मित्रता हो गई। जिससे वे अति हर्ष से अपने क्षेत्र में एक समय खेलने को आये।

उस क्षेत्र के किनारे उन्होंने एक विशाल भाल नामक पर्वत देखा, जो कि-भ्रमर समान काले केशों की श्रेणीरूप वनस्पति से सुशोभित था। भाल पर्वत के नीचे अंधकार मय दो कोठरियों युक्त नासिका नामक गुफा देखी। उस गुफा में निवास करने वाले घ्राण नामक बालक तथा भुजंगता बालिका के साथ मंद कुमार ने मित्रता करी।

बुधकुमार शुद्ध-मन होने से विचारने लगा कि-सज्जनों को परस्त्री के साथ बोलना भी योग्य नहीं, तो मित्रता की बात कैसे हो सकती है? इसलिये मुझे यह भुजंगता वर्ज्य है और घ्राण तो अपने क्षेत्र की गुफा का निवासी होने से पालन करने योग्य है। यह विचार कर बुध ने केवल घ्राण ही के साथ मित्रता करी और मंद ने दोनों के साथ। पश्चात् वे दोनों अपने २ घर आये।

अब भुजंगता के दोष से महामन्द बुद्धि मंद सुगन्धि सूंघने में लंपट होकर पद पद पर दुःखी होने लगा। इधर बुध का पुत्र विचार युवावस्था को प्राप्त कर देशान्तर देखने की इच्छा से जैसे तैसे घर से बाहिर निकल पड़ा। वह महान् कौतुकी होने से बाहर भीतर के अनेक देशों में अनेकवार भ्रमण करके अन्त में अपने घर को आ गया। उसके घर आने पर धिषणा व बुध प्रसन्न हुए। सर्व राज्य कर्मचारी प्रसन्न हुए तथा नगर भी आनन्दित हुआ।

उस समय बड़ी धूमधाम से उसका आगमनोत्सव किया गया व उसने घ्राण के साथ बुध और मंद की मित्रता जान ली। तब विचार ने एकान्त में पिता को कहा कि-हे तात ! घ्राण के साथ आपको मित्रता रखना अच्छा नहीं। इसका कारण सुनिये--

उस समय मैं आपको व मेरी माता को पूछे बिना ही घर से निकल गया और देशों को देखने के लिये अनेक देशों में फिरा।

एक समय मैं भवचक्र नामक महानगर में आ पहुँचा। वहां राजमार्ग में मैंने एक उत्तम स्त्री को देखा। उसे देखकर मैं प्रमोद से रोमांचित हो गया क्योंकि अपरिचित परन्तु श्रेष्ठ व्यक्ति को देखकर भी चित्त में प्रेम आ जाता है। वह स्त्री भी मुझे देखकर मानो सुख सागर में पड़ी हो अथवा अमृत से सींची गई हो अथवा राज्य पाई हो वैसे हर्षित हुई। पश्चात् मैंने प्रणाम किया तो उसने आशीष देकर पूछा कि तू कौन है? तो मैंने भी कहा कि मैं धिषणा और बुध का पुत्र हूँ। हे माता ! मैं माता पिता को पूछे बिना देश देखने की इच्छा से यहां आया हूँ। तब वह मुझ से भेंट करके हर्षाश्रु पूर्ण नेत्र कर कहने लगी-

हे निर्मलकुमार ! मैं धन्य व कृतकृत्य हूँ कि मैंने तुझे आंखों से देखा। क्योंकि हे वत्स ! तू मुझे नहीं पहिचानता है। कारण कि तू छोटा था तब मैं तुझे छोड़कर चली गई थी। किन्तु मैं बुध राजा की सर्व कार्यों में मान्य व धिषणा की सखी हूँ। मेरा नाम मार्गानुसारिता है। अतः तू मेरा भानजा (भागिनेय) होता है। तू ने बड़ा ही उत्तम किया कि-देश देखने की इच्छा

से इस नगर में आ गया। जिसने इस अनेक रचनाओं से युक्त नगर को देखा। उसने हे वत्स ! मानो अखिल चराचर विश्व देख लिया।

मैंने कहा कि-हे माता ! जो ऐसा है तो मुझे सारा नगर बता तदनुसार उसने मुझे सब दिखाया। वहां देखते २ एक जगह मैंने एक दूसरा पुर (मोहल्ला) देखा। तथा वहां एक विशाल पर्वत देखा व उसके शिखर पर एक और भी पुर देखा तब मैंने कहा कि-हे माता ! इस अन्दर के पुर का क्या नाम है ? तथा इस पर्वत व इसके शिखर पर दीखते हुए पुर का क्या नाम है ?

वह बोली कि-हे वत्स ! यह सात्विकमानस नामक पुर है और उसमें यह विवेक नामक पर्वत है और इसका यह अप्रमत्तत्व नामक शिखर है। यह जगद्विख्यात जैन नामक महानगर है, तू तो सर्व सार समझता है अतः क्यों पूछता है हे तात ! वह इस प्रकार स्पष्ट वाणी से मुझे कहने लगी। इतने में वहां एक अन्य बात हुई सो सुनिये।

मैंने एक सख्त प्रहार से मारा हुआ व कैद करके ले जाता हुआ होने से विह्वल बना हुआ तथा बहुत से लोगों से घिरा हुआ राज बालक देखा। मैंने कहा कि-यह बालक कौन है ? किस लिये वह सख्ती से पीटा गया है। कहां ले जाया जा रहा है। और उसके आसपास चलने वाले कौन हैं ?

माता बोली कि-हे वत्स ! इस महा पर्वत में चारित्र धर्म का नमराजा है। उसका यतिधर्म नामक पुत्र है। उक्त यतिधर्म का यह संयम नामक महा बलशाली पुरुष है। उसको महा

मोहादिक शत्रुओं ने किसी समय अकेला देखा । शत्रुओं की संख्या अधिक होने से उन्होंने इसको आघात मारकर जर्जर कर डाला है । जिससे पैदल सैनिक उसे रणभूमि से बाहर लाये हैं । उसे डोली में रखकर उसके घर ले जा रहे हैं । क्योंकि इस जैन पुर में उसके बहुत से बान्धव रहते हैं ।

हे तात ! तब मैं कौतुक से उस माता के साथ शीघ्र उनके पीछे २ विवेक पर्वत के शिखर पर चढ़ गया । वहां मैंने चित्त समाधान नामक मंडप में राजमंडल के मध्य में उक्त महाराजा को बैठे देखा । सत्य, शौच, तप, त्याग, ब्रह्म और अकिंचनता आदि अन्य मांडलिक राजा भी उक्त माता ने मुझे बताये ।

इधर उन मनुष्यों द्वारा लाया हुआ संयम राजा को बताया गया, और उसे सकल वृत्तांत कहा गया । इससे उस कारण से मोह और चारित्र राजा का उस समय जगत् को भी भय उत्पन्न करने वाला महा युद्ध हुआ ।

थोड़े ही समय में सेना सहित चारित्र राजा बलशाली मोह राजा से पराजित हुआ । जिससे वह भागकर अपने किले में आ घुसा । तब मोह राजा का राज्य स्थापित हुआ और चारित्र धर्म राजा पर जो कि अंदर घुसकर बैठा था उस किले को घेरा डाला गया।

मार्गानुसारिता माता बोली कि-हे वत्स ! तू ने यह कुतूहल देखा ? तब मैंने उत्तर दिया कि-हां, आपकी कृपा से बराबर देखा । किन्तु हे माता ! इस कलह का कारण क्या है ? सो मैं स्पष्टतः जानना चाहता हूँ । तब माता बोली कि-हे पुत्र ! सुन

रागकेशरी राजा का अति साहसी और त्रैलोक्यप्रसिद्ध विषयाभिलाष नामक मंत्री है । इस मंत्री ने पूर्व में विश्वसाधन

के हेतु अपने पांच मनुष्यों को गुप्तचर के रूप में सर्व स्थानों में भेजा। उनके नाम ये हैं:—स्पर्शन, रसना, घ्राण, दृक् और श्रोत्र ये पांचों जगत् को जीतने में प्रवीण और अनुपम बलवान हैं।

उन पांचों जनों को किसी जगह चारित्र धर्म राजा के संतोष नामक मंत्री ने पूर्व (किसी समय) कौतुक से अपमानित किया था। उसी कारण से यह अंतरंग राजाओं का परस्पर महान् कलह खड़ा हुआ है।

मैं बोला कि-देशों को देखने का मेरा कौतुक अब पूर्ण हुआ। अब मैं मेरे माता पिता के पास जाने को उत्सुक हुआ हूँ। माता बोली की हे-पुत्र ! प्रसन्नता से जा। मैं भी वह लोग क्या करते हैं सो देखकर तेरे पास ही आने वाली हूँ। तत्पश्चात् मैं शीघ्र ही यह प्रयोजन निश्चित करके यहां आया हूँ। इसलिये हे तात ! इस घ्राण के साथ मित्रता रखना उचित नहीं।

इस प्रकार विचार अपने पिता को कह रहा था कि इतने में तो वहां हे धवल राजन् ! मार्गानुसारिता आ पहुँची। उसने विचार की कही हुई सब बात पुनः कहकर समर्थन की। तब बुध के मन में आया कि घ्राण को छोड़ देना चाहिये।

इधर मंदकुमार भुजंगता युक्त होकर घ्राण को लाड़ लड़ाने में आरक्त हो तथा सदा सुगंधित गंधों की खोज करता हुआ, उसी नगर में फिरता हुआ किसी समय अपनी बहिन लीलावती जो कि देवराज की भार्या थी उसके घर गया।

उस समय उसने अपनी सपत्नी (सौत) के पुत्र को मारने के लिये किसी चांडाल के द्वारा सुगन्धि से प्राण हर लेने वाला

गंध संयोग मंगा रखवाया था। उस गंधपुटिका को द्वार पर रख कर लीलावती घर में गई हुई थी। इतने में उसने आकर उक्त गंधपुटिका देखी।

तब भुजंगता (शौकिनपन) के दोष से वह तुरन्त ही उसे छोड़कर उसमें के गंध द्रव्य को सूंघता हुआ मृत्यु शरण हो गया। मंद को घ्राण के दोष से मरा हुआ देखकर शुद्ध बुद्धिवान् बुध वैराग्य पाकर धर्मघोष सूरि से दीक्षित हुआ। उसने क्रमशः समस्त अंग-उपांग व पूर्व में विशारद होकर तथा अनेक लब्धियां संपादन कर सूरि पद प्राप्त किया।

वह विचरता हुआ यहां आया हुआ मैं स्वयं ही हूँ। अतः हे नरेश्वर! मेरे व्रत लेने का कारण यह मंद की चेष्टा है। यह सुन धवल राजा विस्मय से आंखें विकसित करने लगा और विमल आदि सर्व जन अंजलि बांधकर निम्नानुसार बोलने लगे:—

अहा! इन पूज्य आचार्य महाराज का कैसा सुंदर स्वरूप है। वाणी कैसी सुन्दर है। कैसी परोपकारिता है। कैसी प्रतिबोध देने की कला है। तथा कैसी सदा अपने आप ही को समझाने में तत्परता है। अथवा (यह कहना चाहिये कि) इन पूज्य महात्मा का सकल चरित्र ही कैसा भव्य है।

अब राजा विशेष संवेग पाकर कुमार को कहने लगा कि-हे वत्स! तूं राज्य सम्हाल। मैं तो दीक्षा लूंगा। कुमार बोला कि-हे तात! क्या मैं आपका अप्रिय पुत्र हूँ कि-जो राज्य देने के मिष से मुझे भवरूपी कुए में डालते हो?

यह सुन धवल राजा ने मनमें प्रसन्न होकर विमल के छोटे भाई कमल को जो कि कमलदल के समान नेत्र वाला था, राज्य

सौंपा। पश्चात् विमलकुमार, रानियां, नगरजन और मंत्रियों के साथ राजा धवल ने बुध सूरि से दीक्षा ग्रहण की।

इस समय वामदेव विचारने लगा कि-ऐसा न हो कि-कुमार मुझे बलात् दीक्षा दिलावे अतः मुट्ठी बांधकर वहां से भाग गया।

कुमार मुनि ने उसका कारण गुरु से पूछा तो वे बोले कि-हे विमल! यह मलीन चरित्र पूछने का तुझे क्या प्रयोजन है? अपने कार्य में विघ्न उत्पन्न करने वाले इसके चरित्र की तूं इच्छा ही मत कर। तब विमल बोला कि-आप पूज्य का वचन शिरोधार्य है।

अब रत्नचूड़ विद्याधर अपने को कृतकृत्य हुआ मानकर गुरु के चरण कमलों में नमनकर अपने नगर को गया।

कुमार साधु कृतज्ञ शिरोमणि होने से एक समय मनमें विचारने लगा कि अहा! रत्नचूड़ की परोपकारिता को धन्य है। उसने प्रथम तो मुझे जिनेश्वर के दर्शन रूप रस्से से संसार रूपी भयंकर कूप में गिरने से बचाया। और अभी पुनः बुध मुनीश्वर के दर्शन करा कर मुझे तथा इन सर्व जनों को सिद्धिपुरी के सन्मुख किया। इस प्रकार नित्य मन में विचारते हुए वह तथा धवल राजा अष्टकर्मों का क्षय करके अति निर्मल पद को प्राप्त हुए।

वामदेव उस समय दीक्षा ग्रहण के भय से भागा हुआ कंचनपुर में गया और वहां सरल सेठ के घर रहने लगा। उक्त सेठ पुत्र हीन होने से इसे पुत्र समान मानने लगा और उसने

इस कपटी को अपना गाड़ा हुआ धन भी बता दिया । इससे एक दिन रात्रि को वामदेव ने गड़ा हुआ धन खोद कर गुप्तरीति से हाट (बाजार) के बाहर छिपा दिया, व चौकीदारों ने देख लेने से उसे निकाल लिया ।

इतने में सूर्योदय हुआ तो वामदेव ने चिल्लाया कि सैंध लगाई ! सैंध लगाई !! जिससे वहां बहुत से मनुष्य एकत्र हो गये व सरल भी उदास हो गया । तब चौकीदारों ने कहा कि-हे सेठ ! खिन्न मत होओ । चोर को हमने पकड़ लिया है । यह कह वामदेव को बांधकर वे राजा के पास ले गये । राजा ने क्रुद्ध हो उसे प्राण दंड की आज्ञा दी । तब सरल सेठ ने प्रार्थना कर बहुत सा धन देकर जैसे तैसे उसे छुड़ाया । तब वह लोगों में निन्दित होने लगा कि-यह पापी तो कृतघ्न का सरदार है कि-जिसने अपने पिता तुल्य विश्वासी सरल सेठ को ठगा ।

किसी अन्य दिन किसी विद्यासिद्ध मनुष्य ने राजा के महल को लूटा परन्तु उसका पता न लगने से राजा अति क्रोधित हुआ । व उसने कहा कि यह वामदेव ही का काम है । यह कह उस पापिष्ट को फांसी पर चढ़ाया । जिससे वह मरकर सातवीं तमतमा नारकी में गया । वहां से अनन्तकाल पर्यंत संसार में भटक कर किसी प्रकार मनुष्य भव पाकर कृतज्ञ हो, वामदेव ने मुक्ति पाई ।

इस भांति कृतज्ञता गुणरूप सुधा को, जो कि संताप को हरने वाली है, दुर्लभ है, अजरामर पद देने वाली है, बुधजनों को भी प्रार्थनीय है उसे पी पीकर अपाय कष्ट से दूर रह तथा महान्

आनन्द पाकर हे भव्यो ! विमल कुमार के समान सदैव पूर्णतः तृष्णा रहित रहो।

❀ इति विमलकुमार चरित्र समाप्त ❀

कृतज्ञता रूप उन्नीसवां गुण कहा। अब परहितार्थकारिता रूप बीसवां गुण है। उसका स्वरूप उसके नाम ही से जाना जा सकता है। इसलिये धर्म प्राप्ति के विषय में उसका फल कहते हैं।

परहियनिरओ धन्नो—सम्मं विन्नाय धम्म सब्भावो।
अन्ने वि ठवइ मग्गे—निरीहचित्तो महासत्तो ॥२७।

मूल का अर्थ—परहित-साधन में तत्पर रहने वाला धन्य पुरुष है, क्योंकि वह धर्म के वास्तविक भाव का यथोचित ज्ञाता होने से निःस्पृह व महा सत्ववान् रहकर दूसरों को भी मार्ग में स्थापित करता है।

टीका का अर्थ—जो स्वभाव ही से परहित करने में अतिशय लीन होता है वह धन्य है। अर्थात् वह (धर्मरूप) धन को पाने के योग्य होने से धन्य कहलाता है। सम्यक् रीति से धर्म के सद्भाव का ज्ञाता याने यथावत् धर्म के तत्व को समझने वाला अर्थात् गीतार्थ इससे अगीतार्थ जो परहित करना चाहता हो तो भी उससे नहीं हो सकता ऐसा कहा है-

तथाचागमः— किं इत्तो कट्ठयरं जं सम्ममनायसमयसब्भावो।
अन्नं कुदेसणाए कट्ठयरागंमि पाडेइ ॥१॥ त्ति ॥

आगम में भी कहा है कि-इससे अधिक दुःख पूर्ण क्या है कि जो शास्त्र का परमार्थ सम्यक् रीति से जाने विना ही दूसरों को असद् उपदेश देकर महान् कष्ट में डालते हैं । गीतार्थ हुआ पुरुष अन्य अज्ञानी जनों को सद्गुरु से सुने हुए आगम के वचनों के प्रपंच से मार्ग में याने शुद्ध धर्म में स्थापित करते हैं याने प्रवर्त्तित करते हैं और धर्म को जानने वाले जो सिदाते हैं उनको स्थिर करने हैं । भीमकुमार के समान ।

इस साधु और श्रावक को समानता से लागू होते परहित गुण के व्याख्यान पद से साधु के समान श्रावक को भी अपनी भूमिका के अनुसार देशना देने में प्रवृत्त होने को सम्मति दी है। इसीसे श्री पांचवें अंग के दूसरे शतक के पांचवें उद्देश में कहा है कि –

हे पूज्य ! इस प्रकार के श्रमण माहन की पर्युपासना करने से क्या फल होता है ? हे गौतम ! पर्युपासना से श्रवण होता है । श्रवण से क्या होता है ? ज्ञान होता है । ज्ञान से क्या होता है ? विज्ञान होता है । विज्ञान से क्या होता है ? प्रत्याख्यान होता है । प्रत्याख्यान से क्या होता है ? संयम होता है । संयम से क्या होता है ? अनाश्रव होता है । अनाश्रव से तप होता है । तप से निर्जरा होती है । निर्जरा से अक्रिया होती है । अक्रिया से सिद्धि होती है ।

सवणे नाणे य विन्नाणे—पच्चक्खाणे य संजमे ।
अणण्हए तवे चेव—वोदाणे अकिरिया चेव ॥१॥ गाहा

गाथा का अर्थ—श्रवण, ज्ञान, विज्ञान, प्रत्याख्यान, संयम, अनाश्रव, तप, व्यवदान और अक्रिया (ये एक एक के फल हैं)

इस सूत्र की वृत्ति का अर्थ—तथारूप याने योग्य स्वभाव वाले किसी पुरुष को, श्रमण याने तपस्वी को, यह उपलक्षण बताने वाला पद होने से इसका यह परमार्थ निकलता है कि उत्तर गुणवान् को, माहन याने स्वयं हनन करने से निवृत्त होने से दूसरे को माहन (मत हन) ऐसा बोलने वाले को, यह पद भी उपलक्षण वाची होने से इसका यह परमार्थ निकलता है कि–मूलगुण वाले को, वा शब्द समुच्चयार्थ है, अथवा श्रमण याने साधु और माहन याने श्रावक जानना। उसकी पर्युपासना श्रवण-फला याने सिद्धान्त श्रवण के फलवाली है। श्रवण ज्ञानफल वाला है याने श्रुतज्ञान के फलवाला है। क्योंकि श्रवण से श्रुतज्ञान प्राप्त होता है। उससे विज्ञान याने विशिष्ट ज्ञान होता है। क्योंकि श्रुतज्ञान से हेय और उपादेय का विवेक कराने वाला विज्ञान उत्पन्न होता है। उससे प्रत्याख्यान याने निवृत्ति होती है। क्योंकि विशिष्ट ज्ञानवान पुरुष पाप का वर्जन करता है। उससे संयम होता है। क्योंकि प्रत्याख्यान करने वाले को संयम होता ही है। उससे अनाश्रव होता है। क्योंकि संयम वाला पुरुष नया कर्म संचय नहीं करता। उससे तप किया जा सकता है। क्योंकि अनाश्रवी जो है, वह लघु कर्मी होने से तप करने में समर्थ होता है, तपसे व्यवदान याने कर्म की निर्जरा होती है। क्योंकि तपसे प्राचीन कर्म क्षय किये जाते हैं। उससे अक्रिया याने योग निरोध होता है। क्योंकि कर्म की निर्जरा से योग निरोध किया जा सकता है और उससे सिद्धि रूप अन्तिम फल याने सकल फलों के अन्तवर्ती फल मिलता है।

गाथा याने संग्रह गाथा है। उसका लक्षण-विषम अक्षर और विषम चरण वाला इत्यादि छंद शास्त्र में प्रसिद्ध है।

श्री धर्मदासगणि पूज्य ने भी उपदेश माला में कहा है कि–

श्रावक सदैव साधुओं को वन्दना करे, पूछे, उनकी पर्युपासना करे, पढे, सुने, चिन्तवन करे और अन्य जनों को धर्म कहे। कैसा होकर सो कहते हैं—निरीहचित याने निःस्पृही होकर, क्योंकि सस्पृह होकर शुद्ध मार्ग का उपदेश करे तो भी प्रशस्य नहीं होता।

कहा है कि—तप और श्रुत ये दो परलोक से भी अधिक तेज वाले हैं किन्तु ये ही स्वार्थी मनुष्य के पास होवें तो निःसार होकर तृण समान हो जाते हैं। ऐसा क्यों होता है सो कहते हैं कि—महासत्त्ववान् होता है उससे, कारण कि सत्त्ववान् पुरुषों ही में ऐसे गुण होते हैं। परोपकारतत्परता, निःस्पृहता, विनीतता, सत्यता, उदारता, विद्याविनोदिता और सदैव अदीनता, ये गुण सत्ववान् पुरुष ही में होते हैं।

भीमकुमार की कथा इस प्रकार है।

कपिशीर्षक दलों (कंगूरों) से सुशोभित, जिनमन्दिर रूप केशर वाला, लक्ष्मी से सेवित किन्तु जडके संग से रहित कमल समान कमलपुर नामक नगर था। वहां शत्रु राजाओं के हाथियों की घटा को तोड़ने में बलवान और नीति रूप वन में निवास करने वाले सिंह के सदृश हरिवाहन नामक राजा था। उसकी मालती के फूल समान सुगन्धित शीलवान् मालती नामक रानी थी। उसका अगणित करुणामय उपकार-परायण भीम नामक कुमार था। उस भीम कुमार का अति पवित्र बुद्धिशाली बुद्धिल नामक मन्त्री का बुद्धिमकरध्वज नामक प्रेम परिपूर्ण पुत्र मित्र था।

एक दिन मित्र को साथ लेकर उत्तम विनयवान् और नीति-निपुण कुमार अपने घर से प्रातःकाल में निकलकर राजा के पास

पश्चात् राजा यतीश्वर को नमन करके स्वस्थल को गया और गुरु भी भव्य जनों को बोध देने के लिये अन्य स्थल में विहार करने लगे।

एक समय कुमार अपने घर मित्र के साथ बैठा हुआ सूरि के गुणों का वर्णन कर रहा था। इतने में छड़ीदार ने उसको नमन कर इस प्रकार विनंती की।

हे देव ! एक मनुष्य की खोपड़ियों की माला धारी, बलिष्टाङ्ग कापालिक आपके दर्शन करने को आया है। कुमार ने कहा—उसे अन्दर आने दो। तदनुसार उसने उसे अन्दर भेजा। वह योगी आशिर्वाद देकर उचित स्थान पर बैठ कर अवसर पा बोला कि-हे कुमार ! मुझ से शीघ्र ही एकान्त में मिलिए।

तब कुमार के कटाक्ष के संकेत द्वारा सेवकों को दूर करने पर योगी बोला कि-हे कुमार ! भुवनक्षोभिनी नामक एक उत्तम विद्या मेरे पास है। उसकी मैं ने बारह वर्ष पर्यन्त पूर्व सेवा की है। अब कृष्ण चतुर्दशी के दिन उसे स्मशान में साधना चाहता हूँ। इसलिये तू मेरा उत्तर साधक होकर मेरा परिश्रम सफल कर। तब कुमार ने परोपकार करने में आसक्त होने से उक्त बात स्वीकार कर ली।

पश्चात् कुमार ने उक्त योगी को कहा कि-वह रात्रि तो आज से दशवें दिन आने वाली है। इससे आप अपने स्थान को जाइये। योगी ने कहा कि-मैं तब तक तेरे पास ही रहूँगा। तदनुसार कुमार के स्वीकार करने पर वह कुमार के पास ही बैठने सोने लगा।

यह देख राजकुमार को मन्त्रीसुत कहने लगा कि-हे मित्र ! इस पाखंडी से परिचय करके तू अपने सम्यक्त्व को क्यों ातिचार-दूषित करता है ?

तब राजकुमार बोला कि-तू सत्य बात कहता है, किन्तु मैंने दाक्षिण्यता से उससे ऐसा करना स्वीकार किया है। स्वीकार की हुई बात को पूर्ण करना यह सत्पुरुषों का महान् व्रत है। क्योंकि देखो! चन्द्रमा अपने देह को कलंकित करने वाले शशक को भी क्या त्याग देता है?

जो मनुष्य अपने धर्म में भलीभांति दृढ़ हो, उसे कुसंग क्या कर सकता है? विषधर (सर्प) के मस्तक में रहने वाली मणि क्या विषम विष को नहीं हरती है?

मन्त्रीकुमार बोला कि-जो तुम स्वीकार किये हुए को भलीभांति पालते हो तो पूर्व में अंगीकार किये हुए निर्मल सम्यक्त्व ही का पालन करें। तथा सर्प की मणि तो अभावुक द्रव्य है और जीव तो भावुक द्रव्य है। इसलिये ठीक २ विचार करते हुए तुम्हारा दिया हुआ दृष्टान्त व्यर्थ है। इस प्रकार योग्य युक्तियों से उसके समझाने पर भी राजकुमार ने उक्त लिंगी की ओर आकर्षित होकर मानगुण से उसे न छोड़ा।

उक्त दिन आने पर कुमार अपने सेवकों की नजर चुका कर तलवार लेकर कापालिक के साथ रात्रि को स्मशान में आ पहुँचा। अब योगी वहां मण्डल बनाकर, मन्त्र देवता को बराबर पूज कर कुमार का शिखा बंध करने को उठा।

तब कुमार बोला कि-मेरा सत्वगुण ही मेरा शिखा बंध है, अतः तू तेरा काम किये जा और मन में बिलकुल न डर। यह कह वह ऊंची की हुई तलवार के साथ उसके पास खड़ा रहा। तब कापालिक विचार करने लगा कि कुमार का सिर लेने के लिये शिखाबंध का ढोंग तो व्यर्थ गया। अतः अब बल पूर्वक

ही इसका मस्तक काटना चाहिये। ऐसा मन में निश्चय करके उसने विशाल पर्वत का भी उल्लंघन कर जावे इतना बड़ा अपना रूप बनाया। उसने कुए के समान गहरे कान बनाये और हाथ में तमाल के पत्र समान कृष्ण कर्तिकादि और दिग्गज के समान अत्यंत उग्र धड़हटाड़ करने लगा।

उसका ऐसा प्रपंच देखकर, हाथी को देखकर जैसे सिंह उछल पड़ता है, वैसे ही निडर होकर राजकुमार तलवार को सुधारने लगा। इतने में वह पापी कापालिक बोला कि हे बालक! तेरे मस्तक-कमल द्वारा आज मेरी कुलदेवी की पूजा करके मैं कृतार्थ होऊंगा।

तब राजकुमार बोला कि—अरे पापिष्ट! चांडाल और डुम्ब समान चेष्टा करने वाले! अकल्याणी, अज्ञानी, नीच, पाखंडी! तूं ने आज पर्यन्त जिन-जिन विश्वासियों को मारकर उनके कपाल की माल बनाई है। उनका वैर भी आज मैं तेरा कपाल लेकर निकालूंगा। तब उस कापालिक ने क्रोध करके कर्तिका का प्रहार किया। उसको भीमकुमार तलवार द्वारा चुकाकर उस कापालिक के कंधे पर चढ़ बैठा।

पश्चात् कुमार विचार करने लगा कि—क्या कमल के समान इसका मस्तक तलवार द्वारा काट लूं? अथवा यह मुझे मस्तक पर लेकर अब मेरा सेवक हो गया है अतः इसे कपट से कैसे मारूं? अगर यह किसी प्रकार बहुशक्ति युक्त होकर जैन धर्म प्राप्त करे तो बहुत प्रभावना करेगा यह विचार कर वह उसके मस्तक पर मुष्टिका प्रहार करने लगा।

इतने में योगी उसे अपनी भुजाओं से पकड़ने लगा, त्योंही कुमार तलवार सहित उसके गहरे कान में गिर पड़ा। वहां उसे कुमार तीक्ष्ण नखों द्वारा, पोत्र (फावड़ा) जैसे जमीन को

विदीर्ण करता है उस भांति विदीर्ण करने लगा। तब वह योगी सूंड़ में गिरगट घुस जाने से चिल्लाते हुए हाथी के समान रोने लगा। तब जैसे तैसे योगी ने कुमार को अपने हाथों द्वारा कान से बाहर निकाला और उसके पैर पकड़ कर उसे गेंद के समान आकाश में उछाला। उसके आकाश में से गिरते २ दैव योग से एक यक्षिणी ने उसे अधर झेल लिया और उसे अपने कर कमल के संपुट में धारण कर वह उसे अपने भवन में ले गई। वहां उसने उसको मणिमय सिंहासन पर बैठाया। यह देख वह विस्मित होकर विचार करने लगा कि-यह क्या बात है।

इतने में वह यक्षिणी उसके संमुख प्रकट होकर हाथ जोड़ कर उसको कहने लगी कि-हे भद्र! यह विंध्य पर्वत है और उसी के नाम से यह वन है याने विंध्यवन है। विंध्य पर्वत की गुफा के अन्दर यह अतिसंगत देवगृह है, और मैं यहां इसकी मालिक कमलाक्षा नामक यक्षिणी हूँ। आज मैं अष्टापद से लौट कर वापस आई हूँ (मार्ग में) कापालिक के तुझे ऊंचा फेंकने से आकाश में से गिरता हुआ देख कर तुझे अधर झेल, लेकर यहां आई हूँ। अब मैं असह्य काम के तीक्ष्ण बाण के प्रहार से विव्हल हो रही हूँ और तेरी शरण में आई हूँ, इस लिये हे भद्र! मुझे तू उससे बचा।

तब वह हंसकर बोला कि-हे चतुर यक्षिणी! ये विषय चतुर जनों के लिये निंदनीय है। वमन की हुई मदिरा के समान है, वमन किये पित्त के समान है, तुच्छ है अनित्य है नरक नगर को जाने के सरल मार्ग समान है बहुत ही कष्ट साध्य है अन्त में धोखा देकर रुलाने वाले है। लाखों दुःख जनक है देखने ही में मधुर लगते है किन्तु परिणाम में विष के समान भयंकर

है और संसार रूपी वृक्ष के मूल समान है इसलिये कौन चतुर मनुष्य उनको भोगता है।

विषयों का सेवन करने से वे शान्त न होकर उलटे बढ़ते हैं जैसे कि–पामर जनों की पामा हाथ से खुजालने से उलटी बढ़ती है।

कहा भी है कि–काम उसके उपभोग से कदापि शान्त नहीं होता वह तो घृत के होम से जैसे अग्नि बढ़ती है वैसे बढ़ा ही करता है। इस लिये हे भव भीरु! लाखों दुःखों की हेतु इस विषयगृद्धि को तू छोड़ दे और श्री जिनेश्वर तथा उनके बताने वाले (गुरु) की भक्ति कर।

उसके इस प्रकार के वचनामृत से यक्षिणी का विषय संताप शांत हुआ। जिससे वह हस्त कमल जोड़कर, कुमार को इस भांति कहने लगी। हे स्वामिन्! आपके प्रसाद से मुझे परभव में उत्तम पद मिलना सुलभ हुआ है, क्योंकि मैं सकल दुःख के कारण भूत भोगों को सम्यक् प्रकार से त्याग करने को समर्थ हो गई हूँ। जैसे पींजरे में रखे हुए शुक पर राग रहता है, वैसे ही तुझ में मेरा मजबूत भक्तिराग हो और जो तुझे भी सदा पूज्य हैं, वे जिनेश्वर मेरे देव हो।

इस प्रकार वह महान भक्तिशालिनी देवी ज्यों ही कुछ कहने लगी उतने में कुछ मधुर ध्वनि सुन कुमार उसे पूछने लगा। अति मनोहर बंध समृद्ध शुद्ध सिद्धान्त के वचनों द्वारा यहां ऐसा उत्तम स्वाध्याय कौन करता है? तब वह बोली हे स्वामिन्! इस पर्वत में चातुर्मास के पारणे से आहार करने वाले महा मुनि रहते हैं। वे स्वाध्याय करते हैं जिससे उनका यह मधुर शब्द सुनाई देता

है। तब राजकुमार बोला कि-यह तो मानो शीत काल में अग्नि मिलने अथवा अंधकार में दीपक मिलने के समान हुआ कि-यहां भी मुझे पुण्य योग से सुसाधु की संगति मिली। इसलिये मैं अब शेष रात्रि इनके पास जाकर व्यतीत करूं। तब देवी उसे मुनियों के पास ले गई। पश्चात् देवी बोली कि-मैं प्रातः काल मेरे कुटुम्बियों सहित मुनियों को वन्दना करने को आऊंगी यह कह कुमार का उपदेश स्मरण करती हुई अपने स्थान को गई।

अब कुमार ने गुफा के द्वार के समीप बैठे हुए गुरु को नमन किया, तो उन्होंने उसे धर्मलाभ दिया। पश्चात् वह पवित्र भूमि पर बैठ गया। तत्पश्चात् वह विस्मित हो गुरु को पूछने लगा कि-हे भगवन्! आप इस भयानक प्रदेश में किसी के सहारे बिना और भूखे प्यासे रहकर कैसे निर्भय रह सकते हो? कुमार के इस प्रकार पूछने पर गुरु जवाब देते ही थे कि इतने में कुमार ने आकाश से आती हुई एक भुजा देखी।

वह अत्यन्त लम्बी और कृष्णता से चमकती हुई आकाश से नीचे आती हुई शोभने लगी। वह आकाश लक्ष्मी की वेणी के समान मनोहर लावण्य-युक्त थी। वह चंचल और भयानक थी। अति कठिन थी और रक्त-चंदन का लेप की हुई थी जिससे मानो भूमि पर पड़ी हुई यम की जीभ हो वैसी प्रतीत होती थी वह आश्चर्य जनक भुजा शीघ्र वहां आई। तब मुनिगण व कुमार निर्भय होकर उसे देखते रहे। वह आकर तुरन्त कुमार की तलवार को दृढ़ता से मुट्ठी में लेकर वापस लौटी। यह भुजा किसकी होगी अथवा यह मेरी तलवार को क्या करेगी? सो मैं स्वयं जाकर देखूं तो ठीक। यह विचार करके कुमार शीघ्र उठा

और गुरु के चरण छूकर कौतुकवश सिंह के समान छलांग मारकर उक्त भुजा पर चढ़ बैठा।

महादेव के कंठ समान कृष्ण भुजा पर चढ़कर कुमार आकाश मार्ग में जाता हुआ ऐसा शोभने लगा मानो कालिकासुर पर चढ़ा हुआ विष्णु हो। स्थूल और स्थिर भुजा रूप फलक (पटिये) पर स्थित महा समुद्र का उल्लंघन करता हुआ ऐसा दीखने लगा मानो टूटी हुई नौका का वणिक तैरता हो। वह अनेक वृक्षों वाले पर्वत तथा नदियों को देखता हुआ जा रहा था। इतने में उसने अतिशय भयानक कालिका का मंदिर देखा।

उक्त मन्दिर के गर्भगृह में उसने शस्त्र धारी, महिषवाहिनी तथा मनुष्यों की खोपड़ियों से आभूषित कालिका की मूर्ति देखी उस मूर्ति के सन्मुख उसने पूर्व परिचित कापालिक को अपने वाम हाथ में केश द्वारा एक मनुष्य को पकड़े हुए देखा। तथा जिस भुजा पर चढ़कर राजकुमार बैठा था वह उस दुष्ट योगी की दाहिनी भुजा थी। केश से पकड़े हुए पुरुष को देखकर कुमार विचार करने लगा कि—इस पुरुष को यह कुपाखंडी क्या करने वाला है सो मैं गुप्तरीति से देखूं। पश्चात् जो कुछ करना होगा, करूंगा। यह सोचकर कुमार बाहु पर से उतर कर उसी योगी के पीछे गुपचुप खड़ा रहा। अब उक्त भुजा योगी को कुमार की तलवार देकर अपने स्थान पर लग गई।

स्त्री वासगृह में गई, वह वहां तुझे न देखकर घबराई। तब वह भौंह चढ़ाकर पहरेदारों से पूछने लगी तो वे भी बोले कि अरे! हमारे जागते हुए हमको भी धोखा देकर चला गया है। पश्चात् सर्वत्र खोज करने पर भी तेरा पता न लगा। तब राजा को कहलाया कि—रात्रि के प्रथम प्रहर में कुमार को कोई हर ले गया है।

यह सुन तेरे पिता व माताएं विलाप करने लगे। तब किसी के अंग में कुल देवी उतर कर इस प्रकार कहने लगी कि—हे राजन्! धीरज धरो। तुम्हारे पुत्र को रात्रि को एक नीच योगी ने उत्तर-साधक के मिष से उसका मस्तक लेने के लिये हरण किया है। परन्तु उसको यक्षिणी अपने घर ले गई है, इत्यादि सर्व वृत्तान्त कह कर कहा कि—थोड़े दिनों अनन्तर वह महान् विभूति के साथ यहां आ पहुँचेगा। यह कहकर वह अपने स्थान को गई। अब मैं उसके वचन से विश्वास प्राप्त करने के लिये शकुन देखने के हेतु अपने घर से निकला।

इतने में सहसा एक हर्षितचित्त पुरुष ने कहा कि—हे भद्र! तेरे इस इष्ट कार्य की सिद्धि शीघ्र होओ। इस भांति शुभ शब्द होने से मैं प्रसन्न हो कर चलने को उद्यत हुआ। इतने ही में आकाश स्थित इस योगी ने मुझे उठा लिया और यहां ला रक्खा। इसलिये पुण्य से आपके दर्शन हों उसी से इसने मुझे प्राप्त किया है। अतः यह परम उपकारी है। अतएव हे मित्र! इसे धर्म का उपदेश कर।

अब वह योगी भी प्रसन्न होकर बोला कि—जो उत्तम धर्म काली देवी ने स्वीकार किया है उसी की मुझे शरण हो और उसका बतलाने वाला जिनेश्वर मेरा देव है। तथा अपकारी पर

उपकार करने वाले हे बुद्धि-मकरगृह ! तेरे चरणों में नमता हूँ। गुणरत्न के रोहिणाचल इस राजकुमार को मान देता हूँ। इस प्रकार वे प्रसन्न होकर बोल रहे थे इतने में सूर्योदय होते वहां एक स्थूल व स्थिर सूंड़ वाला जलाक्ष नामक हाथी आ पहुँचा। वह सूंड़ के द्वारा भीम व मंत्रीकुमार को अपनी पीठ पर लेकर उक्त काली के मंदिर से निकल शीघ्र आकाश में उड़ गया।

तब कुमार विस्मित होकर बोला कि—हे मित्र ! क्या इस मनुष्य लोक में कोई ऐसा उत्तम व उड़ने वाला हाथी होगा ? तब जिन वचन से भावित बुद्धिवाला मन्त्रीकुमार स्पष्ट कहने लगा कि—हे मित्र ! ऐसी कोई बात ही नहीं जो कि संसार में संभव न हो। तथापि यह तो कोई तेरे पुण्य से प्रेरित देवता जान पड़ता है। अतः यह चाहे जहां जावे, इससे अपने को लेश मात्र भी भय नहीं होगा।

इस भांति वे दोनों बातें कर रहे थे। इतने में वह हाथी झट आकाश से उतर कर एक शून्य नगर के द्वार पर उनको छोड़कर कहीं चला गया। तब भीमकुमार अपने मित्रको बाहिर छोड़ कर अकेला ही नगर में घुसा। उसने नगर के मध्य में आने पर एक नरसिंहके आकारका याने नीचे का अंग मनुष्य समान मुख में सिंह समान जीव देखा। और उसने मुख में एक रूपवान पुरुषको पकड़ रखा था। वह पुरुष "मेरे प्राण मत हरण कर" ऐसा वारंवार कहता हुआ रो रहा था। उसको देखकर राजकुमार ने सोचा कि—अहो ! यह भयंकर कर्म क्या है ? अतः वह सविनय प्रार्थना करने लगा कि—इस पुरुष को छोड़ दे। तब उसने दोनों आंखे खोल, राजकुमार को देखकर उस मनुष्य को मुंह में से निकाल अपने पैर के नीचे रखकर, मुसकराकर कहा कि—हे प्रसन्न

मुख ! मैं इसे कैसे छोड़ूं ? क्योंकि आज मैं ने क्षुधित होकर यह भक्ष्य पाया है।

कुमार बोला कि—हे भद्र ! यह तो तूं ने उत्तरवैक्रिय रूप किया जान पड़ता है तो भला, यह तेरा भक्ष कैसे हो सकता है ? क्योंकि देवता को कवलाहार नहीं है। व जो अबुध हो वह तो कुछ भी करे परन्तु तूं तो विबुध है। अतः तुझे ऐसे दुःख से रोते हुए जीवों को मारना उचित नहीं। कारण कि जो रोते हुए प्राणियों को किसी प्रकार मार डालते हैं वे लाखों दुःखों की रोमावली से घिरकर भयंकर संसारमें भटकते हैं।

वह बोला कि-यह बात सत्य है; परन्तु इसने पूर्व में मुझे इतना दुःख दिया है कि जो इसको सौ बार मारूं तो भी मेरा कोप शान्त न होवे। इसी से इस पूर्व के शत्रु को बहुत कदर्थना पूर्वक अति दुःख देकर मैं मारूंगा। तब राजकुमार बोला कि—हे भद्र ! यदि तुझे अपकारी के ऊपर कोप होना हो तो कोप के ऊपर कोप क्यों नहीं करता ? क्योंकि कोप तो सकल पुरुषार्थ को नष्ट करने वाला और संपूर्ण दुःखों का उत्पादक है। अतः इस बेचारे को छोड़ दे और करुणारस-युक्त धर्म का पालन कर कि–जिससे तूं भवांतर में दुःख रहित मोक्ष पावे।

इस प्रकार बहुत समझाने पर भी वह दुष्टात्मा उसे छोड़ने को तैयार न हुआ। तब कुमार सोचने लगा कि-यह कुछ नम्रता से नहीं समझेगा। उस क्रुद्ध धृष्ट को धक्का देकर राजकुमार ने उक्त पुरुष को अपनी पीठ पर उठा लिया। जिससे वह कुपित हो भयंकर रूप धारण कर मुंह फाड़कर भीम को निगलने के लिये दौड़ा। तब कुमार उसे पैर से पकड़ कर सिर पर घुमाने लगा। तब वह सूक्ष्म होकर कुमार के हाथ से छूट कर उसके गुण से प्रसन्न हो वहीं अदृश्य हो गया।

उसे अदृश्य हुआ देखकर राजकुमार उक्त नागरिक पुरुष को साथ लेकर राजभवन में आया। वहां सातवीं भूमि के स्तंभो में स्थित शाल-भंजिकाएं (पुतलियें) हाथ जोड़ कर कुमार का स्वागत कर बोलने लगीं। पश्चात् वे पुतलियां स्तम्भों पर से नीचे उतरीं और उन्होंने कुमार को बैठने के लिये सुवर्ण का आसन दिया। तब उक्त पुरुष के साथ राजकुमार वहां बैठा। इतने में आकाश से वहां सम्पूर्ण स्नान करने की सामग्री आ पहुँची। तब पुतलियां प्रमुदित होकर बोली कि-कृपा कर यह पोतिका वस्त्र पहिन कर स्नान करिये।

राजकुमार बोला कि-मेरा मित्र नगर के बाहिर के उद्यान में है। उसे बुला लाओ। तदनुसार वे उसे भी शीघ्र वहां ले आईं पश्चात् उन्होंने मित्र सहित भीमकुमार को स्नान कराकर भक्ति पूर्वक भोजन कराया। इसके अनन्तर वह विस्मित होकर क्षण भर पलंग पर बैठा। इतने में देवता प्रत्यक्ष होकर कुमार के सन्मुख हाथ जोड़ कर बोला कि-तेरे प्रबल पराक्रम से मैं संतुष्ट हुआ हूँ अतः वर मांग।

कुमार बोला कि-जो तूं मुझ पर प्रसन्न हुआ हो तो कह कि-तूं कौन है? किस लिए हमारा इतना उपचार करता है? और यह नगर कैसे उजड़ हुआ है?

देवता बोला कि—यह कनकपुर नामक नगर है। इसमें कनकरथ नामक राजा था। जिसको कि तूं ने बचाया है और मैं इसका चंड नामक पुरोहित था मैं सब लोगों पर सदैव क्रुद्ध रहता था। जिससे सब लोग मेरे शत्रु हो गये। कोई भी स्वजन नहीं रहा। यह राजा भी स्वभाव से क्रूर और प्रायः कान का कच्चा था। जिससे अपराध की शंका मात्र से भी भारी दंड देता था।

एक दिन किसी ने मुझ पर मत्सर लाकर राजा को ऐसा झूठा समझाया कि यह पुरोहित चांडालिनी के साथ गमन करता है। तब मैं ने उसकी पूर्ण खातरी करने के लिये काल विलंब करने को कहा। तो भी इसने मुझे सन से लपेटा कर, तेल छिड़का रोता २ जलवा दिया। तब दुःखी हो मर कर मैं अकामनिर्जरा के योग से सर्वगिल नामक राक्षस हुआ। पश्चात् वैर स्मरण कर मैं यहां आया और मैंने इस नगर के सकल लोगों को अदृश्य किया व तदनन्तर नरसिंह रूप करके इस राजा को पकड़ा। किन्तु करुणायुक्त पौरुष गुण रूप मणि के समुद्र आपने उसे छुड़ाया जिससे हे सुमतिवान्! मेरा मन अत्यन्त चमत्कृत हुआ है।

यह स्नानादिक आपका सम्पूर्ण उपचार मैंने अदृश्य रूप रहकर भक्ति पूर्वक दिव्य शक्ति के द्वारा किया है। व आपके चरित्र से प्रसन्न होकर मैंने इस नगर के लोगों को प्रकट किये हैं। यह सुन कुमार ने दृष्टि फिरा कर देखा तो सर्व लोग नजर आये। इतने में कुमार ने विशिष्ट देवों सहित चारण मुनींद्र को आकाश मार्ग से उतरते देखा। वे आचार्य जहां कुमार मन्त्रीपुत्र को छोड़ आया था। वहां देवरचित सुवर्ण कमल पर बैठकर धर्मकथा करने लगे।

अब भीमकुमार की प्रेरणा से सर्वगिल, मन्त्रीकुमार, कनकरथ तथा समस्त नगर जन गुरु को नमन करने आये। वे भूमि पर मस्तक लगा हर्षित मन से पाप को दूर करते हुए मुनीश्वर को नमन करके इस प्रकार देशना सुनने लगे।

क्रोध सुखरूप झाड़ को काटने के लिये परशु समान है। वैरानुबंध रूप कंद की वृद्धि करने को मेघ समान है। संताप को उत्पन्न करने वाला है और तपनियम रूप वन को जलाने के लिये अग्नि समान है। कोप के भराव से उत्कट खल शरीर वाला

प्राणी वध, मारण, अभ्याख्यान आदि अनेक पाप करता है। जिससे जोरावर अत्यधिक दारुण कर्मजाल उपार्जन करके अनुपम भव रूप भयंकर अरण्य में दुःखी होकर भटकता है। इसलिये हे भव्यो ! जो तुमको श्रेष्ठ पद प्राप्त करने की इच्छा हो तो कोप को छोड़कर शिवपद के सुख को प्रकट करने वाले जिन-धर्म में उद्यम करो।

यह सुन सर्वगिल गुरु के चरण में नमन कर बोला कि—कनकरथ राजा पर का कोप आज से मैं छोड़ देता हूँ व इस धर्म-कुमार में जो कि—मेरे गुरु समान है मेरी दृढ़ भक्ति होओ। इतने में वहां गड़गड़ करता एक विशाल हाथी आ पहुँचा उसको अचानक आता देख कर उक्त पर्षदा को अतिशय क्षोभ हुआ। इतने में कुमार ने धीरज पूर्वक उसे पुचकारा तो हाथी ने अपनी सूंड़ संकोच कर शान्त हो पर्षदा सहित गुरु की प्रदक्षिणा देकर प्रणाम किया।

अब यतीश्वर ने इस हाथी को कहा कि—हे महायक्ष ! तूं भीम का अनुसरण करके क्या यहां हाथी के रूप में आया है ? व तूं ही काली के भवन से इस राजकुमार को अपने पौत्र कनकरथ को बचाने के लिये यहां लाया है, और अब उसको तेरे पौत्र के नगर को ले जाने के लिये तैयार हुआ है। यह सुन कर वह हाथी के रूप को संहरने लगा।

वह देदीप्यमान अलंकार वाला यक्ष का रूप धारण कर बोला कि—हे ज्ञानसागर मुनीश्वर ! आप का कथन सत्य है। तथापि मुझे बताना चाहिये कि पूर्व में मैंने सम्यक्त्व अंगीकार किया था, किन्तु कुलिंगी के संसर्ग से मेरे मन रूप भवन में आग लगी। जिससे मेरी निर्मल सम्यक्त्व रूप समृद्धि जल कर भस्म हो गई। इसीसे मैं वन में ऐसा अल्प ऋद्धिवान यक्ष हुआ हूँ।

इसलिये हे भगवन्! आप कृपा करके मुझे विशुद्ध सम्यक्त्व दीजिए। तब कनकरथ तथा राक्षस आदि ने भी कहा कि-हमको भी दीजिए। तदनुसार गुरु ने उन सब को सम्यक्त्व दिया, और भीमकुमार मुनीश्वर को नमन करके राक्षस आदि के साथ कनकरथ राजा के घर आया।

अब कनकरथ राजा अनेक सामन्त मन्त्री आदि से परिवारित हो कुमार को नमन कर कहने लगा कि-यह जीवन, यह महान् राज्य, ये पुरलोकः, यह हमारी महान् लक्ष्मी तथा जो सम्यक्त्व प्राप्त हुआ वह सब आपका प्रसाद है। अतएव हे नाथ! हम आपके सेवक हैं। अतः हम को समुचित कार्य में जोड़िये कि जिससे आपके विशेष आभारी होवें।

कुमार बोला कि-जैसे जीवों का जन्म मरण परस्पर हेतु-भूत हैं। वैसे ही संपदा और आपदा भी है। उसमें दूसरे कौन हेतु हैं। किन्तु तुम सुकुल में जन्मे हुए व भव्य हो तो तुम्हारा कर्तव्य है कि इस अतिदुर्लभ जिन-धर्म में प्रमाद नहीं करना चाहिये। व साधर्मिकों में बंधुभाव रखना, साधुवर्ग की सेवा में तथा परहित-साधन में सदैव तुमको यत्न रखना चाहिये। तब वे हाथ जोड़ कर बोले कि-हे नाथ! आप कुछ दिन यहां रहिये ताकि हम भी जिन-धर्म में कुशल हो सकेंगे।

चली। किन्तु अब तेरे माता पिता तथा नगरलोक तेरे गुणों का स्मरण करके रोते हैं। यह मैंने कार्यवश वहां जाते देखा। जिससे किसी भांति उनको धीरज देकर उनके सन्मुख ऐसी प्रतिज्ञा ली है कि, दो दिन के अन्त में मैं भीमकुमार को मित्र समेत यहां ले आऊंगी व मैं ने कहा कि-भीमकुमार ने तो अनेक पुरुषों को जैन-धर्म में स्थापित किया है और महान् करुणा करके बहुत से व्यक्तियों को मरने से बचाया है। वह अपने मित्र व हितचिंतक के साथ कनकपुर में क्षेमकुशलता पूर्वक स्थित है। अतः हर्ष के स्थान में तुम विषाद मत करो।

यह सुन कुमार उत्सुक होकर वहां जाने को उद्यत हुआ। इतने में आकाश में भेरी और भंभा का आवाज़ गूंजने (उछलने) लगा। इतने ही में विमानों की पंक्ति के मध्य के विमान में स्थित कमल समान मुखवाली एक देवी नजर आई, कि जिसकी कान्ति से दशों दिशाओं में अंधकार दूर होगया था। तब "यह क्या है ?" इस प्रकार कहते हुए, राक्षस तथा हाथ में मुद्गर धारण किये हुए यक्ष व हाथ में दीप्तिमान कर्त्तिका युक्त काली आदि शीघ्र तैयार हुए।

इस समय भीमकुमार तो भीम के समान निर्भय खड़ा था इतने में देव व देवियां कुमार के समीप ऊपर आ उसे बधाई देने लगे कि-हे हरिवाहन राजा के पुत्र ! तेरी जय हो। तूं चिरजीवि हो, प्रसन्न रहो ! ऐसा कहकर उन्होंने कमलाक्षा यक्षिणी का आगमन सूचित किया। अब वह यक्षिणी भी विमान से उतर कर कुमार को प्रणाम कर उचित स्थान पर बैठ कर इस प्रकार विनन्ती करने लगी।

हे कुमार ! तूं मुझे सम्यक्त्व देकर विंध्य पर्वत की गुफा में रात्रि को रह गया था। वहां मैं प्रातः काल मेरे परिवार

सहित आई। मैं ने मुनियों को नमन किया किन्तु तुम्हें वहां न देखकर मैं ने अवधि से तुमको यहां स्नान करते देखा जिससे मैं प्रसन्न हुई। वहां से लौटकर कुछ समय तक मैं एक भारी काम के कारण रुक गई थी, किन्तु अब हे महायश ! पुण्य-योग से तेरे दर्शन हुए हैं।

पश्चात् यक्ष ने विमान रचाकर राजकुमार को कहा कि-हे नाथ ! अब शीघ्र चढ़िये क्योंकि अपने को कमलपुर जाना है। तब भीमकुमार उठकर प्रीतिवान् कनकरथ राजा को जैसे वैसे समझाकर बुद्धिल मंत्री के पुत्र के साथ विमान पर आरूढ़ हुआ। उसके चलने पर कोई देवता गाने लगे, कोई नृत्य करने लगे और कोई हाथी के समान गर्जना करने लगे व कोई घोड़े के समान हिन-हिनाने लगे। तथा भेरी व भंभा आदि के नाद से आकाश को बहरा करते हुए वे सब कुमार के साथ कमलपुर के समीप के गांव में आ पहुँचे। वहां भीमकुमार जिन-मंदिर में गया और यक्ष राक्षस आदि के साथ जिनेश्वर को नमन कर हर्षित हो संगीत पूर्वक महोत्सव कराने लगा। अब पडह, भेरी, झालर और कांसिया आदि वाद्यों का शब्द कमलपुर में सभा में बैठे हुए राजा ने सुना।

तब राजा ने मंत्रियों को पूछा कि-आज क्या किसी महा मुनि को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है कि जिससे देव वाद्यों का नाद सुनाई देता है ? तब मंत्री लोग विचार करके ज्योंही कुछ उत्तर देने को उद्यत हुए त्योंही उक्त ग्राम के स्वामी ने राजा को बधाई दी कि-हे महाराज ! बहुत से देव देवियों सहित आपका कुमार मेरे ग्राम में आ पहुँचा है और उसने जिन-मंदिर में यह महोत्सव प्रारंभ किया है।

चली। किन्तु अब तेरे माता पिता तथा नगरलोक तेरे गुणों का स्मरण करके रोते हैं। यह मैंने कार्यवश वहां जाते देखा। जिससे किसी भांति उनको धीरज देकर उनके सन्मुख ऐसी प्रतिज्ञा ली है कि, दो दिन के अन्त में मैं भीमकुमार को मित्र समेत यहां ले आऊंगी व मैं ने कहा कि-भीमकुमार ने तो अनेक पुरुषों को जैन-धर्म में स्थापित किया है और महान् करुणा करके बहुत से व्यक्तियों को मरने से बचाया है। वह अपने मित्र व हितचिंतक के साथ कनकपुर में क्षेमकुशलता पूर्वक स्थित है। अतः हर्ष के स्थान में तुम विषाद मत करो।

यह सुन कुमार उत्सुक होकर वहां जाने को उद्यत हुआ। इतने में आकाश में भेरी और भंभा का आवाज़ गूंजने (उछलने) लगा। इतने ही में विमानों की पंक्ति के मध्य के विमान में स्थित कमल समान मुखवाली एक देवी नजर आई, कि जिसकी कान्ति से दशों दिशाओं में अंधकार दूर होगया था। तब "यह क्या है ?" इस प्रकार कहते हुए, राक्षस तथा हाथ में मुद्गर धारण किये हुए यक्ष व हाथ में दीप्तिमान कर्त्तिका युक्त काली आदि शीघ्र तैयार हुए।

इस समय भीमकुमार तो भीम के समान निर्भय खड़ा था इतने में देव व देवियां कुमार के समीप ऊपर आ उसे बधाई देने लगे कि-हे हरिवाहन राजा के पुत्र ! तेरी जय हो। तू चिरजीवि हो, प्रसन्न रहो ! ऐसा कहकर उन्होंने कमलाक्षा यक्षिणी का आगमन सूचित किया। अब वह यक्षिणी भी विमान से उतर कर कुमार को प्रणाम कर उचित स्थान पर बैठ कर इस प्रकार विनन्ती करने लगी।

हे कुमार ! तू मुझे सम्यक्त्व देकर विंध्य पर्वत की गुफा में रात्रि को रह गया था। वहां मैं प्रातः काल मेरे परिवार

इसमें मिथ्यात्वरूप सर्प रहता है तथा अशुभ अध्यवसायरूप करंक (घोर खोदे वा बिज्जू) वसते हैं, वैसे ही स्नेहरूप स्तम्भ लेकर इसमें बहुत से भूत घूमते फिरते हैं। व इसमें जहां देखो वहां कलह कंकास रूप थालियों की खड़खड़ाहट होती है और अनेक जाति के उद्वेगजनक करुण रुदन के स्वर सुनाई देते हैं। तथा स्थान स्थान पर शुभ धन के भंडार रूप भस्म के ढेर हैं और कृष्णादिक अशुभ लेश्यावाली सुखगृद्धि रूप शियालिनी से यह विकराल लगता है।

अति दुस्सह अनेक आपत्तियों रूप शकुनिकाओं से यह भयानक है व इसमें कपटी दुर्जन रूप अरिष्ट (अशुभ सूचक चिह्न) स्थित हैं तथा इसमें अज्ञान रूप मातंग (चांडाल) रहते हैं। अतः इस संसार रूप स्मशान में विषय रूप विषम कीचड़ में फंस जाते हैं, उनको स्वप्न में भी सुख कहां से हो ?

जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपरूप सार सुभटों को चार दिशाओं में उत्तर साधक रूप से स्थापित कर सुसाधु की मुद्रा धारण कर, जिन-शासन रूप मण्डल में बैठकर, साहस रख, दो प्रकार की शिक्षारूप शिखाबंध दे, मोहपिशाच आदि इष्ट में विघ्नकारियों को दूरकर, शान्त मन रख, इन्द्रियों का प्रचार रोककर एकाग्रता से सामाचारी रूप नवीन विचित्र पुष्पों से सिद्धान्त रूप मन्त्र का जप विधि पूर्वक करने में आवे तो सम्पूर्ण मनवांछित सुख प्राप्त होते हैं और उनका जाप बढ़ते बढ़ते परम निर्वृत्ति (मुक्ति) मिलती है।

साथ संसार रूप श्मशान को पार करने में समर्थ दीक्षा ग्रहण कर ली। वह राजर्षि एकादश अंग सीखकर, चिरकाल निर्मल चारित्र पालन कर सिद्धिपद को प्राप्त हुआ।

भीम राजा भी चिरकाल तक सैकड़ों प्रकार से जिन शासन की उन्नति करता हुआ परहित करने में तत्पर रहकर नीति से राज्य का पालन करने लगा। उसने अन्त में संसार रूप कारागृह से उद्विग्न हो, पुत्र को राज्य पर स्थापित कर दीक्षा लेकर मुक्ति प्राप्त की। इस प्रकार भीमकुमार का चमत्कारिक वृत्तांत सुनकर हे पंडितों! तुम हर्ष से परहितार्थ करते हुए जैन मत से भावित रहो।

(इस प्रकार भीमकुमार की कथा पूर्ण हुई)

परहितार्थकारी नामक बीसवां गुण कहा, अब इक्कीसवें लब्धलक्ष्य गुण का फल से वर्णन करते हैं।

लक्खेइ लद्धलक्खो-सुहेण सयलंपि धम्मकरणिज्जं।
दक्खो सुसासणिज्जो तुरियं च सुसिक्खिओ होइ ॥२८॥

मूल का अर्थ—लब्धलक्ष्य पुरुष सुख से समस्त धर्म कर्त्तव्य जान सकता है वह चतुर होने से शीघ्र सुशिक्षित हो जाता है।

लक्ष रखे याने जाने—ज्ञानावरणी कर्म हलुआ होने से प्राप्त हुए के समान प्राप्त हुआ है लक्ष्य याने सीखने के योग्य अनुष्ठान जिसको वह लब्धलक्ष्य पुरुष सुख से याने बिना क्लेश से अर्थात् बिना कंटाले—सकल याने समस्त धर्मकृत्य चैत्यवन्दन गुरुवन्दन आदि-पूर्व भव में सीखा हुआ हो उस प्रकार सब शीघ्र जान सकता है।

कहा है कि--प्रत्येक जन्म में जीवों को कुछ शुभाशुभ कार्य का अभ्यास किया हुआ हो, वह उसी अभ्यास के योग से यहां सुखपूर्वक सीखा जा सकता है। इसीसे दक्ष याने चालाक होने से सुशासनीय (सुख से शिक्षित हो ऐसा) होने से त्वरित् याने अल्प काल में सुशिक्षा का पारगामी होता है। नागार्जुन योगी के समान-

नागार्जुन की कथा इस प्रकार है-

गांधी के बाजार के समान सुगंधित (सुयशवान्) पाटलिपुत्र नामक नगर था। वहां मुरुंड नामक राजा था। उसके चरण कमलों में लाखों ठाकुर नमते थे। वहां काम को जीतने वाले और बहुत से आगम को शुद्ध रीति से पढ़े हुए संगमनामक महान् आचार्य पापसमूह को दूर करते हुए विचरतेर आ पहुँचे। उनके व्याकरण के समान गुण वृद्धि भाव वाला (वृद्धि पाते हुए गुणवाला) सत्क्रिया से सुशोभित और रुचिर शब्द वाला एक शिष्य था। वह बालक होते हुए भी पूर्णवयस्कोचित बुद्धिरूप गुणरत्न का रोहणाचल था। वह एक समय चतुर्थ रसवाली याने खट्टी राब लाकर गुरु से इस प्रकार बोला-

ताम्र समान रक्त नेत्र वाली और पुष्प समान दांत वाली नवयुवती वधू ने कड़छी से यह ताजा व नवीन चावल की कांजी का अपुष्पित आम्ल (खट्टा) मुझे दिया है। तब गुरुने कहा कि-हे वत्स! तूं ऐसा बोलता है जिससे प्रतीत होता है कि तूं प्रलिप्त (पलित) हुआ है। तब वह बोला कि-मुझे आचार सिखाने की कृपा करिए। गुरु ने वैसा ही किया, तथापि लोगों ने उसका नाम पालितक रख दिया। वह बहुतसी सिद्धियों वाला व वादी हुआ। जिससे गुरु ने उसे अपने पद पर स्थापित किया।

वे किसी समय किसी काम के हेतु वसति के बाहर रुके हुए थे। इतने में वहां कोई वादी आ पहुँचे। वे उन्हें आचार्य का स्थान पूछने लगे। तब इन्होंने उनको टेढ़ा व लम्बा मार्ग बताया कि जिससे वे विलम्ब से पहुँचे और स्वयं उनके पहिले ही वसति में आ पहुँचे। वहां आकर कपट करके किवाड़ बन्द करके सो रहे। इतने में उक्त वादी आकर पूछने लगे कि-पालित्तक सूरि कहां हैं ? तो शिष्य बोले कि—गुरु सुख पूर्वक सो रहे हैं। तब उन्होंने उपहास करने के हेतु मुर्गे का शब्द किया। तो गुरु ने बिल्ली का शब्द किया। तब वे बोले कि—हे मुनीश्वर ! आपने हम सब को लीला बता कर जीत लिया है। अब दर्शन दीजिए। तब वे शीघ्र उठे। उन्हें बहुत छोटे देखकर उनको जीतने के लिये वादी इस प्रकार कहने लगे—

हे पालित्तक ! बोलो, सारी पृथ्वी में भ्रमण करते तुमने अग्नि को चंदन रस के समान शीतल कहीं भी देखी है अथवा सुनी है ?

श्री कालिक नामक सूरि जो कि नमि विनमि के वंश में रत्न समान हुए। उनके अनन्तर उनके शिष्य वृद्धवादी हुए। तत्पश्चात् उनके शिष्य सिद्धसेन हुए जो कि ब्राह्मण कुल में तिलक समान थे और वर्तमान में कपट निद्रा धारण करने से वास्तविक कपट रूप जगत् में विख्यात ये संगमसूरि हुए और उनका शिष्य मैं पादलिप्त हुआ हूं।

इस प्रकार जिन प्रवचन रूप नभस्तल में चन्द्र समान उत्तम वादी व कवि ऐसे अपने पूर्व पुरुषों का वर्णन करके पादलिप्त बोले कि—अपयश का अभिघात लगने से बचे हुए शुद्धचित्त पुरुष को अग्नि उठाने में चन्दन के रस समान शीतल लगती

है। इस प्रकार निर्बाधा से वाद में वादियों को जीतने के अनन्तर गुरु ने उनके समक्ष नव-रस-पूर्ण व तरंग समान आगे बढ़ती हुई कथा कह सुनाई। व मुरुंड राजा के बीमार होने पर उसके मस्तक की वेदना उक्त आचार्य ने शमन कर दी और ऐसी कविता करी है कि वैसी आज तक अन्य कवि न कर सके।

यथाः—लंबे सर्प रूप नाल वाले; पर्वत रूपी केशरा वाले; और दिशा के मुख रूप दल वाले (पखड़ी वाले) पृथ्वी रूप पद्म में काल रूपी भ्रमर, देखो मनुष्य रूपी मकरंद पीता है। तथा उक्त आचार्य ने लक्ष्यलक्ष्य से जो गूढ़ सूत्र आदि अनेक भाव जान लिये हैं, वे बड़े२ ग्रन्थों से जान लेना चाहिये। उक्त पादलिप्त सूरि अष्टमी आदि पर्वों में अपने चरणों में लेप करके गिरनार व शत्रुंजय पर आकाश मार्ग से देव-वन्दन करने को जाया करते थे।

इधर सौराष्ट्र देश में सुवर्ण सिद्धि से ख्याति पाया हुआ और सर्व विषयों में ध्यान देने वाला नागार्जुन नामक योगी था। वह पादलिप्त सूरि को देखकर बोला कि-आप मुझे आपकी पादलेप की सिद्धि बताइये और मेरी यह सुवर्ण सिद्धि मैं आपको देता हूँ, तब सूरि ने उसे उत्तर दिया कि—

सीखने लगा। पश्चात् तीर्थवन्दन को आये हुए सूरि के चरण कमल में चतुराई से सर्व श्रावकों के भांति रहकर वन्दन करने लगा। वहां गुरु के चरण में अपना सिर रखकर उन को प्रणाम करने लगा। जिससे उसने लक्ष्य रखकर गंध द्वारा एक सौ सात औषधियां पहिचान लीं।

पश्चात् उन औषधियों द्वारा उसने अपने पैरों में लेप किया। उसके योग से वह आकाश में मुर्गे की भांति उड़ने व गिरने लगा। इतने में पुनः गुरु वहां आये। उन्होंने उसको यह गति देखकर पूछा तो उसने कहा कि-हे प्रभु ! यह आपके चरण का प्रसाद है मैंने उनकी गंध लेकर इतना ज्ञात किया है। पश्चात् वह बोला कि-हे प्रभु ! कृपाकर मुझे सम्यक् योग बताइए ताकि मैं कृतार्थ होऊं, क्योंकि-गुरु के उपदेश विना सिद्धियां प्राप्त नहीं होती।

तब आचार्य सोचने लगे कि ओहो ! इसका लब्धलक्ष्यपन कैसा उत्तम है कि इसने सहज ही में धर्म तथा औषधियों का ज्ञान प्राप्त कर लिया। इसलिये यह अन्य (विनय) भी सुख पूर्वक जान सकेगा। यह सोचकर सूरि बोले कि-जो तूं मेरा शिष्य हो जावे तो मैं तुझे योग बताऊं। तब वह बोला कि-हे नाथ ! मैं यतिधर्म का भार उठाने को समर्थ नहीं किन्तु हे प्रभु ! आपसे गृहस्थ धर्म अंगीकार करूंगा। ठीक, तो ऐसा ही करो यह कह आचार्य ने उससे सम्यक्त्व पूर्वक निर्मल गृहस्थ-धर्म स्वीकृत कराया और बाद में कहा कि-

साठी चांवलों के पानी से तेरे पगों में लेप कर। यह सुन उसने वैसा ही करने पर उसको आकाश में गमन करने की लब्धि प्राप्त हुई। उस लब्धि के प्रभाव से वह गिरनार आदि

स्थलों में जाकर जिनेन्द्र के बिम्बों को वन्दन किया करता था तथा उसने पादलिप्त सूरि के नाम पर पालीताणा नामक नगर बसाया। तथा गिरनार के समीप घोड़ा जा सके वैसी सुरंग बनवाई तथा नेमीश्वर भगवान की भक्ति से उसने दशार मंडप नामक चैत्य आदि बनवाये।

इस प्रकार गृहस्थ धर्म का पालन कर तथा जिन-शासन की उन्नति करके वह इस लोक व परलोक के कल्याण का पात्र हुआ। इस भांति लब्धलक्ष्य गुण वाले नागार्जुन योगी को प्राप्त हुआ फल भलीभांति सुन कर समस्त गुणों में प्रधानभूत इस गुण में हे भव्य जनों, प्रयत्न कर्ता होओ।

इस प्रकार नागार्जुन की कथा पूर्ण हुई है।

लब्धलक्ष्यपन रूप इक्कीसवां गुण कहा। अब निगमन करते हैं—

एए इगवीस गुणा सुयाणुसारेण किंचि वक्खाया।
अरिहंति धम्मरयणं घित्तुं एएहि संपन्ना ॥२९॥

मूल का अर्थ—इन इक्कीस गुणों का शास्त्र के अनुसार किंचित् वर्णन किया (क्योंकि) जो इन गुणों से युक्त होता है, वह धर्मरत्न ग्रहण करने के योग्य होता है। ये पूर्वोक्त स्वरूप वाले इक्कीस गुण श्रुतानुसार अर्थात् शास्त्र में जिस भांति प्राप्त होवे उसी भांति (संपूर्णतः तो नहीं किन्तु) स्वरूप से तथा फल से प्ररूपित किये। किस लिये सो कहते हैं:—

इन अभी कहे हुए गुणों से जो सम्पन्न याने युक्त अथवा सम्पूर्ण हो वह योग्यता पूर्वक धर्म रत्न को (पाने के लिये) योग्य होता है। न कि वसंत राजा के समान राजलीला ही को पाता है, यह भाव है। क्या एकान्त से इतने गुणों से संपन्न होवें वे ही धर्म के अधिकारी हैं अथवा कुछ अपवाद भी है? इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं।

पायद्धगुणविहीणा एएसिं मज्झिमा वरा नेया।
इत्तो परेण हीणा दरिद्पाया मुणेयव्वा ॥३०॥

मूल का अर्थ—इन गुणों के चतुर्थ भाग से हीन होंवे वे मध्यम हैं और अर्द्ध भाग से हीन हो वे जघन्यपात्र हैं किन्तु इससे अधिक हीन हों वे दरिद्रप्राय: अर्थात् अयोग्य हैं।

यहां अधिकारी तीन प्रकार के है:—उत्तम, मध्यम व जघन्य उसमें पूरे गुण वाले हो वे उत्तम हैं। पाद याने चतुर्थ भाग और अर्द्ध याने आधा भाग गुण शब्द प्रत्येक में लगाना चाहिये। जिससे यह अर्थ है कि चतुर्थ भाग अथवा अर्ध भाग के बराबर गुणों से जो हीन याने विकल उक्त (कहे हुए) गुणों में से हों वे क्रमश: मध्यम व जघन्य हैं अर्थात् चतुर्थ भाग हीन सो मध्यम और अर्द्ध हीन सो जघन्य है। उससे भी जो हीनतर हो उन्हें कैसे मानना सो कहते हैं। इससे अधिक याने अर्द्ध भाग से भी अधिक गुणों से जो हीन याने रहित हों वे दरिद्र-प्राय: याने भिक्षुक के समान हैं। जैसे दरिद्री लोग उदर पोषण की चिन्ता ही में व्याकुल रहने से रत्न खरीदने का मनोरथमात्र भी नहीं कर सकते, वैसे ही वे भी धर्म की अभिलाषामात्र भी नहीं कर सकते।

धम्मरयणत्थिणा तो, पढमं एयज्जणंमि जइयव्वं ।
जं सुद्धभूमिगाए, रेहइ चित्तं पवित्त पि ॥३१॥

ऐसा है तो क्या करना चाहिये ? सो कहते हैं–

अतः धर्मरत्नार्थियों ने प्रथम इन गुणों को उपार्जन करने का यत्न करना चाहिये, क्योंकि पवित्र चित्र भी शुद्धभूमिका ही में शोभता है। पूर्वोक्त स्वरूपवान धर्मरत्न उसके अर्थियों ने याने उसके प्राप्त करने के इच्छुकों ने इस कारण से प्रथम याने आदि में इन गुणों के अर्जन में याने वृद्धि करने में यत्न करना चाहिये क्योंकि वैसा किये बिना धर्म प्राप्ति नहीं होती। यहीं हेतु कहते हैं—क्योंकि शुद्धभूमिका में याने कि प्रभास नामक चित्रकार को सुधारी हुई भूमि के समान निर्मल आधार ही में चित्र याने चित्रकर्म उत्तम किया हुआ हो वह भी शोभा देने लगता है।

प्रभास चित्रकार की कथा इस प्रकार है:—

यहां जैसे नाग व पुन्नाग नामक वृक्षों से कैलाश पर्वत के शिखर शोभते हैं। वैसे ही नाग (हाथी) और पुन्नाग (महान् पुरुषों) से सुशोभित और अतिमनोहर धवलगृह वाला साकेत नामक नगर था। वहां शत्रु रूपी वृक्षों को उखाडने में महाबल (पवन) समान महाबल नामक राजा था। वह एक समय सभा में बैठा हुआ, दूत को पूछने लगा कि –

हे दूत ! मेरे राज्य में राज्यलीलोचित कौनसा काम नहीं है ? दूत बोला कि —हे स्वामी ! एक चित्रसभा के अतिरिक्त अन्य सब हैं। क्योंकि नयन-मनोहर अनेक चित्र देखने से राजा लोग स्पष्टतः भांति-भांति के कौतुक प्राप्त कर सकते हैं। य
महान् कौतूहली (शौकीन) राजा ने प्रधान मन्त्री को अ

कि शीघ्र ही चित्रसभा बनवाओ।

तब उसने अतिविशाल (महान्) शाल (वृक्ष) वाली, बहुत से शकुन (पक्षियों) से शोभती, और शुभ छाया वाली उद्यान भूमि के समान विशाल शाला (परशाल) वाली, बहुशकुन (मंगल) से अलंकृत और पवित्र छाय (छज्जे) वाली महा सभा तैयार कराई। पश्चात् राजा ने चित्रकारी में सिद्ध-हस्त नगर के मुख्य चित्रकार विमल व प्रभास को बुलाया। उनको आधी आधी सभा बांटकर दे दी और बीच में पर्दा बंधाकर निम्नानुसार आज्ञा दी।

देखो! तुमको एक दूसरे का कार्य कभी न देखना चाहिये व अपनी २ मति के अनुसार यहां चित्र बनाना चाहिये।

मैं तुम्हारी योग्यता के अनुसार तुमको इनाम दूंगा। राजा के यह कहने से वे परस्पर स्पर्धा से बराबर काम करने लगे। इस तरह छः मास व्यतीत हो गये। तब राजा उत्सुक हो उनको पूछने पर विमल बोला कि-हे देव! मेरा भाग मैंने तैयार कर लिया है। तब मेरु के समान उस भाग को सुवर्ण से सुशोभित और विचित्रता से चित्रित किया हुआ देखकर राजा ने प्रसन्न हो उसे महान् पारितोषिक दिया।

प्रभास को पूछने पर वह बोला कि-मैं ने तो अभी चित्र निकालना प्रारम्भ भी नहीं किया क्योंकि अभी तक तो मैंने भूमि

दूसरों को भी नहीं ठगना चाहिये तो फिर स्वामी को ठगना यह कैसी बात है? तब वह बोला—हे देव! यह तो प्रतिबिम्ब का संक्रमण हुआ है। यह कहकर उसने परदा नीचे किया तो राजा ने वहां सामान्य भूमि ही देखी।

तब विस्मित होकर राजा ने पूछा कि—ऐसी भूमि किस लिये बनाई है? तब प्रभास बोला कि—हे देव! ऐसी भूमि में एक तो चित्र विशेष स्थिर रहते हैं। दूसरे रंगों की कांति अधिक स्फुरित होती है। तीसरे चित्रित आकार अधिक शोभते हैं और चौथे दर्शकों को अधिकाधिक भावोल्लास होता है। यह सुन उसके विवेक पर प्रसन्न हुए राजा ने उसे दुगुना इनाम दिया व साथ ही कहा कि अब मेरी इस वर्तमान चित्रों वाली चित्र सभा को जैसी है वैसी ही रहने दे, कि जिससे सब से अपूर्व प्रसिद्धि होगी। इस बात का उपनय यहां इस प्रकार है।

साकेतपुर सो संसार है। राजा सो आचार्य है। सभा सो मनुष्य गति है। चित्रकार सो भव्य जीव है और चित्रसभा की भूमि सो आत्मा है। वैसे ही भूमि परिकर्म सो सद्गुण हैं और चित्र सो धर्म है। आकार सो व्रत हैं। रंग सो नियम हैं और भावोल्लास सो जीव का वीर्य है। इस प्रकार प्रभास नामक

श्रावक धर्म का अधिकारी ग्रंथान्तर में इस भांति कहा है-"वहां जो अर्थी हो समर्थ हो सूत्र निषिद्ध न हो वह अधिकारी। अर्थी वह है कि जो विनीत हो सन्मुख आकर पूछने वाला हो। इस प्रकार अधिकारी बताया गया है और विरतश्रावक धर्म का अधिकारी इस प्रकार है:-

जो सम्यक्त्व पाकर नित्य यतिजनों से उत्तम सामाचारी सुनता है उसी को श्रावक कहते हैं। वैसे ही जो परलोक में हितकारी जिनवचनों को जो सम्यक् रीति से उपयोग पूर्वक सुनता है व अतितीव्र कर्मों का नाश होने से उत्कृष्ट श्रावक है।

इत्यादिक खास रीति से श्रावक शब्द की प्रवृत्ति के हेतु रूप सूत्रों के द्वारा अधिकारीपन बताया है और यतिधर्म के अधिकारी भी अन्य स्थान में इस प्रकार कहे हुए हैं कि जो आर्यदेश में समुत्पन्न हुए हो इत्यादि लक्षण वाले हों वही उसके अधिकारी हैं। इसलिये इन इक्कीस गुणों द्वारा तुम कौन से धर्म का अधिकारित्व कहते हो ?

यहां उत्तर देते हैं कि-ये सर्व शास्त्रान्तर में कहे हुए लक्षण प्रायः उन गुणों के अंगभूत ही हैं। जैसे कि चित्र एक होने पर भी उस में विचित्र वर्ण, विचित्र रंग और विचित्र रेखाएं दृष्टि में आती हैं और वर्तमान गुण तो सर्व धर्मों की साधारण भूमि के समान हैं, जैसे भिन्न२ चित्रों की भी जगह तो एक ही होता है। यह बात सूक्ष्मबुद्धि से विचारणीय है। तथा इसी ग्रन्थ में कहने वाले हैं कि—दो प्रकार का धर्मरत्न भी पूर्णतः ग्रहण करने को वही समर्थ होता है कि जिसके पास इन इक्कीस गुण रूप —ों की ऋद्धि सुस्थिर होती है, अतएव यहां कहते हैं—

सइ एयंमि गुणोहे संजायइ भावसावगत्तं पि, ।
तस्स पुण लक्खणाइं एयाइं भणंति सुहगुरुणो ॥३२॥

भावश्रावकत्व भी ये गुणसमूह होवें तभी प्राप्त होता है। उसके लक्षण शुभगुरु इस प्रकार कहते हैं। भावयतित्व तो दूर रहा परन्तु भावश्रावकत्व भी उक्त अनंतर गुणसमूह के होने पर याने विद्यमान हो तभी संभव है।

शंका—क्या श्रावकत्व अन्य प्रकार से भी होता है कि जिससे ऐसा कहते हो कि भावश्रावकत्व ?।

उत्तर—हां यहां जिनागम में सकल पदार्थ चार प्रकार के ही हैं। कहा है कि "नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव से प्रत्येक पदार्थ का न्यास होता है।

यथा—नामश्रावक याने किसी भी सचेतन अचेतन पदार्थ का श्रावक नाम रखना सो। स्थापनाश्रावक चित्र या पुस्तक में रहता है। द्रव्यश्रावक ज्ञशरीर भव्यशरीर व्यतिरिक्त मानें तो जो देव गुरु को श्रद्धा से रहित हो सो अथवा आजीविकार्थ श्रावक का आकार धारण करने वाला हो सो।

भावश्रावक तो—"श्रा याने जो श्रद्धालुत्व रखे व शास्त्र सुने। व याने पात्र में दान करे वा दर्शन को अपनावे। क याने पाप काटे व संयम करे उसे विचक्षण जन श्रावक कहते हैं।"

इत्यादि श्रावक शब्द के अर्थ को धारण करने वाला और विधि के अनुसार श्रावकोचित व्यापार में तत्पर रहने वाला इसी ग्रन्थ में जिसका आगे वर्णन किया जावेगा सो होता है व उसी का यहां अधिकार है। शेष तीन तो ऐसे वैसे ही हैं (सारांश कि यहां काम के नहीं)।

शंका–आगम में तो श्रावक के भेद औरप्रकार से कहे हुए हैं, क्योंकि श्री स्थानांग सूत्र में श्रमणोपासक चार प्रकार के कहे हैं—यथा–माता पिता समान, भ्राता समान, मित्र समान और सपत्नी समान, अथवा दूसरे प्रकार से चार भेद हैं—यथा–दर्पण समान, ध्वजा समान, स्थाणु समान, व खरंट समान। ये सब भेद साधु आश्रित श्रावक कैसे ? उसके लिये कहे हैं। अब इन सब भेदों का यहां कहे हुए चार भेदों में से किस भेद में समावेश होता है ?

उत्तर–व्यवहारनय मत से ये सब भावश्रावक हैं, क्योंकि व्यवहार वैसा कराता है।

निश्चयनय के मत से सपत्नी व खरंट समान मिथ्यादृष्टि प्रायः जो होते हैं वे द्रव्यश्रावक हैं और शेष भावश्रावक हैं कारण कि इन आठों भेद का स्वरूप आगम में इस प्रकार वर्णित किया है।

जो यति के काम की सम्हाल ले, भूल देखे तो भी प्रीति न छोड़े और यतिजनों का एकान्त भक्त हो सो माता समान श्रावक है। जो हृदय में स्नेहवान् होते भी मुनियों के विनय कर्म में मंद आदरवाला हो वह भाई समान है, वह मुनि को पराभव होने से शीघ्र सहायक होता है। जो मानी होकर, कार्य में न पूछते जरा अपमान माने और अपने को मुनियों का वास्तविक स्वजन समझे वह मित्र समान है। जो स्तब्ध होकर छिद्र देखता रहे, बार २ भूल चूक कहा करे वह श्रावक सपत्नी समान है वह साधुओं को तृण समान समझता है।

दूसरे चतुष्क में कहा है कि–गुरु का कहा हुआ सूत्रार्थ

जिसके मन में ठीक तरह से बैठ जाय वह दर्पण के समान सुश्रावक शास्त्र में कहा गया है ।

जो पवन से हिलती हुई ध्वजा के समान मूढ़ जनों से भ्रमित हो जावे वह गुरु के वचन पर अपूर्णविश्वास वाला होने से पताका समान है । जो गीतार्थ के समझाने पर भी लिये हुए हठ को नहीं छोड़ता है वह स्थाणु के समान है, किन्तु वह भी मुनिजन पर अद्वेषी होता है । जो गुरु के सत्य कहने पर भी कहता है कि, तुम तो उन्मार्ग बताते हो, निह्नव हो, मूर्ख हो, मंदधर्मी हो इस प्रकार गुरु को अपशब्द कहता है वह खरंट समान श्रावक है । जैसे गंदा अशुचि द्रव्य उसको छुपाने वाले मनुष्य को खरड़ता है ऐसे ही जो शिक्षा देने वाले को ही खरड़ता है (दूषित करता है) वह खरंट कहलाता है ।

खरंट व सपत्नी समान श्रावक निश्चय से तो मिथ्यात्वी है, तथापि व्यवहार से श्रावक माना जाता है, क्योंकि वह जिन-मन्दिर आदि में आता जाता है । यह अन्य प्रसंग की बात अब वन्द करते हैं उक्त भावश्रावक के लक्षण याने चिह्न शुभ गुरु याने संविग्न आचार्य से याने आगे कहे जावेंगे सो कहते हैं ।

इस प्रकार से श्री-देवेन्द्रसूरिविरचित और
चारित्रगुण रूप महाराज के प्रसाद रूप
श्री धर्मरत्न की टीका का पीठाधिकार समाप्त हुआ ।

प्रथम भाग संपूर्ण